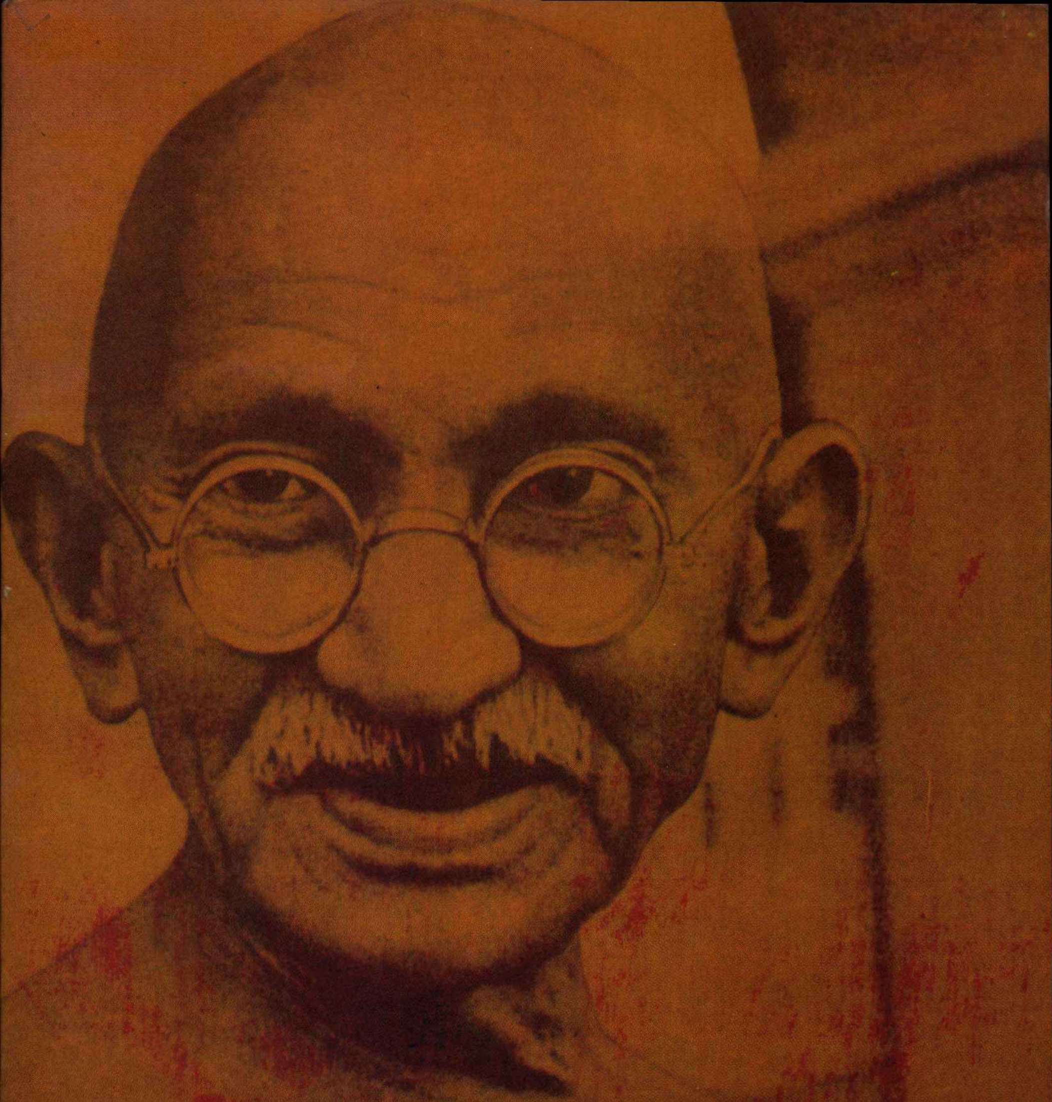


# हिन्दू-धर्म क्या है ?

महात्मा गांधी



# हिन्दू-धर्म क्या है?

ISBN 81-237-0634-0

पहला संस्करण : 1993
चौथी आवृत्ति : 2001
छठी आवृत्ति : 2005 *(शक 1927)*

Hindu Dharma Kya Hai? *(Hindi)*

**रु. 40.00**

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क
नई दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

# आमुख

महात्मा गांधी के 125वें जन्मदिन के अवसर पर हिन्दू-धर्म पर उनके समृद्ध चिंतन को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए मैं बहुत प्रसन्न हूं। यह चयन मुख्यत: **यंग इन्डिया**, **हरिजन** और **नवजीवन** में गांधीजी द्वारा हिंदी और गुजराती में लिखे गए लेखों पर आधारित है। हालांकि ये लेख अलग-अलग अवसरों पर लिखे गए थे, फिर भी इनमें हिन्दू-धर्म की ऐसी छवि विद्यमान है जो अपनी विचार संपन्नता, समग्रता और मानव अस्तित्व की मूलभूत दुविधाओं के प्रति सजगता के विषय में अन्यत्र दुर्लभ हैं।

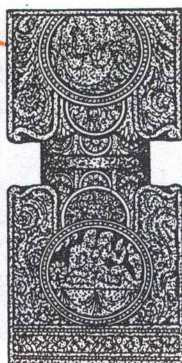
"हिन्दू-धर्म क्या है?" में गांधीजी के चिंतन की प्रासंगिकता यों तो सार्वकालिक है, फिर भी मेरे विचार में इतिहास के वर्तमान चरण में इसका विशेष महत्त्व है।

इस चयन को प्रस्तुत करने में मुझे नेहरू संग्रहालय के अपने सहकर्मी उपनिदेशक डॉ. हरिदेव शर्मा से काफी सहयोग मिला है। मैं नेशनल बुक ट्रस्ट का भी बहुत आभारी हूं जिसने भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के लिए इस पुस्तक को इतने कम समय में प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया।

2 अक्तूबर 1993

**रवींद्र कुमार**
अध्यक्ष
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्
नयी दिल्ली

# विषय सूची



1

## हिन्दू-धर्म क्या है ?

यह हिन्दू-धर्म का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य है कि वह कोई सत्तारोपित मत नहीं है। अत: अपने आपको किसी गलतफहमी से बचाने के लिए ही मैंने कहा है कि सत्य और अहिंसा मेरा धर्म है। यदि मुझसे हिन्दू-धर्म की व्याख्या करने के लिए कहा जाये तो मैं इतना ही कहूंगा-अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्य की खोज। कोई मनुष्य ईश्वर में विश्वास न करते हुए भी अपने-आपको हिन्दू कह सकता है। सत्य की अथक खोज का ही दूसरा नाम हिन्दू-धर्म है। यदि आज वह मृतप्राय , निष्क्रिय अथवा विकासशील नहीं रह गया है तो इसलिए कि हम थककर बैठ गये हैं और ज्यों ही यह थकावट दूर हो जायेगी त्यों ही हिन्दू-धर्म संसार पर ऐसे प्रखर तेज के साथ छा जायेगा जैसा कदाचित् पहले कभी नहीं हआ। अत: निश्चित रूप से हिन्दू-धर्म सबसे अधिक सहिष्णु धर्म है।

---

24.4.1924, पृष्ठ 516-518, खंड-23, गांधी वाड्मय



2

## क्या हिन्दू-धर्म में शैतान की कल्पना है?

मेरे विचार से तो हिन्दू-धर्म की खूबी उसकी सर्व-संग्राहकता में है। 'महाभारत' के दिव्य लेखक ने अपनी महान् कृति के विषय में जो बात कही है वह बात हिन्दू-धर्म पर भी उतनी ही लागू होती है। हिन्दू-धर्म में हर धर्म का सार मिलेगा। और जो चीज इसमें नहीं है, वह असार या अनावश्यक है।

---

17.9.1925, पृष्ठ 204, खंड-28, गांधी वाङ्मय



3

## मैं हिन्दू क्यों हूं?

एक अमेरिकी बहन जो अपने को हिन्दुस्तान का यावज्जीवन मित्र कहती हैं, लिखती हैं :

> चूंकि हिन्दू-धर्म पूर्व के मुख्य धर्मों में से एक है, और चूंकि आपने ईसाई-धर्म और हिन्दू-धर्म का अध्ययन किया है, और उस अध्ययन के आधार पर अपने आपको हिन्दू घोषित किया है, मैं आपसे अपनी इस पसन्दगी का कारण पूछने की अनुमति चाहती हूं। हिन्दू और ईसाई दोनों ही मानते हैं कि मनुष्य की प्रधान आवश्यकता है ईश्वर को जानना, और सच्चे मन से उसकी पूजा करना। यह मानते हुए कि ईसा परमात्मा के प्रतिनिधि थे, अमेरिका के ईसाइयों ने अपने हजारों पुत्रों और पुत्रियों को हिन्दुस्तान वालों को ईसा के बारे में बतलाने के लिए भेजा है। क्या आप कृपा करके बदले में ईसा की शिक्षाओं के साथ-साथ हिन्दू-धर्म की तुलना करेंगे और हिन्दू-धर्म की अपनी व्याख्या देंगे? इस कृपा के लिए मैं आपका हार्दिक आभार मानूंगी।

कई मिशनरी सभाओं में अंग्रेज और अमेरिकी मिशनरियों से मैंने यह कहने का साहस किया है कि अगर वे ईसा के बारे में हिन्दुस्तान को 'बताने' से बाज आते और 'सरमन ऑन द माउंट' में बताये गये ढंग से अपना जीवन बिताते, तो भारत उन पर शक करने के बदले अपनी सन्तानों के बीच उनके रहने को

---

20.10.1927, पृष्ठ 170-171, खंड-35, गांधी वाङ्मय

कद्र करता और उनकी उपस्थिति से लाभ उठाता। अपने इस विचार के कारण मैं अमेरिकी मित्रों को हिन्दू-धर्म के बारे में बतौर 'बदले' के कुछ 'बता' नहीं सकता। अपने धर्म के बारे में, विशेष रूप से धर्म परिवर्तन के उद्देश्य से लोग दूसरों से कुछ कहें इसमें मेरा विश्वास नहीं है। विश्वास में किसी को कुछ बताने की गुंजाइश नहीं है। विश्वास पर तो आचरण करना होता है और तब वह अपना प्रचार स्वयं करता है।

और सिवाय अपने जीवन के और किसी अन्य ढंग से हिन्दू-धर्म की व्याख्या करने के योग्य मैं अपने को नहीं मानता। और अगर मैं लिख कर हिन्दू-धर्म को समझा नहीं सकता तो ईसाई-धर्म से उसकी तुलना भी नहीं कर सकूंगा। इसलिए मैं तो सिर्फ इतना ही कर सकता हूं कि यथासम्भव संक्षेप में मैं बताऊं कि मैं हिन्दू क्यों हूं?

मैं वंशानुगत गुणों के प्रभाव पर विश्वास रखता हूं, और मेरा जन्म एक हिन्दू परिवार में हुआ है इसलिए मैं हिन्दू हूं। अगर मुझे यह अपने नैतिक बोध या आध्यात्मिक विकास के विरुद्ध लगे तो मैं इसे छोड़ दूंगा। अध्ययन करने पर जिन धर्मों को मैं जानता हूं उनमें मैंने इसे सबसे अधिक सहिष्णु पाया है। इसमें सैद्धान्तिक कट्टरता नहीं है, यह बात मुझे बहुत आकर्षित करती है क्योंकि इस कारण इसके अनुयायी को आत्माभिव्यक्ति का अधिक से अधिक अवसर मिलता है। हिन्दू-धर्म वर्जनशील नहीं है, अत: इसके अनुयायी न सिर्फ दूसरे धर्मों का आदर कर सकते हैं बल्कि वे सभी धर्मों की अच्छी बातों को पसन्द कर सकते हैं और अपना सकते हैं। अहिंसा सभी धर्मों में है मगर हिन्दू-धर्म में इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति और प्रयोग हुआ है। (मैं जैन और बौद्ध धर्मों को हिन्दू-धर्म से अलग नहीं गिनता)। हिन्दू-धर्म न सिर्फ सभी मनुष्यों की एकात्मता में विश्वास करता है बल्कि सभी जीवधारियों की एकात्मता में विश्वास करता है। । मेरी राय में हिन्दू-धर्म में गाय की पूजा मानवीयता के विकास की दिशा में उसका एक अनोखा योगदान है। सभी जीवों की एकात्मता और इसलिए सभी प्रकार के जीवन की पवित्रता में इसके विश्वास का यह व्यावहारिक रूप है। भिन्न योनियों में जन्म लेने का महान विश्वास, इसी विश्वास का सीधा नतीजा है। अन्त में, वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्त की खोज सत्य की निरन्तर खोज का अत्यन्त सुन्दर परिणाम है। ऊपर बतलाई बातों की परिभाषा देकर मैं इस लेख को भारी नहीं बनाऊंगा। मैं तो यहां सिर्फ इतना ही कहूंगा

कि गो-भक्ति और वर्णाश्रम के आज के खयालात, मेरी समझ में, मूल गो-भक्ति और वर्णाश्रम की विकृतियां भर हैं। जो चाहें, वे 'यंग इंडिया' के पिछले अंकों में वर्णाश्रम और गो-भक्ति की परिभाषा देख सकते हैं। मैं निकट भविष्य में ही वर्णाश्रम पर कुछ कहने की आशा रखता हूं। इस अत्यन्त संक्षिप्त खाके में तो मैंने सिर्फ हिन्दू-धर्म की वे विशेषताएं बतलाई हैं जो मुझे हिन्दू बनाये हुए हैं।

[अंग्रेजी से]
**यंग इंडिया**, 20.10.1927



4

# हिन्दू-धर्म

अपनी मद्रास यात्रा के दौरान अस्पृश्यता की समस्या पर बोलते हुए मैंने जितने जोरदार ढंग से अपने को सनातनी हिन्दू बताया है, उतने जोरदार ढंग से ऐसा कोई दावा पहले कभी नहीं किया था। फिर भी हिन्दू-धर्म के नाम पर ऐसे बहुत से काम किये जाते हैं, जो मुझे मंजूर नहीं हैं। अगर मैं सचमुच वैसा नहीं हूं तो मुझे सनातनी हिन्दू अथवा अन्य किसी ढंग का हिन्दू कहलाने की कोई ख्वाहिश नहीं है और निश्चय ही मेरी ऐसी कोई ख्वाहिश तो हरगिज नहीं है कि एक महान् धर्म की आड़ लेकर मैं कोई सुधार या बुराई दाखिल करूं।

इसलिए यह आवश्यक है कि सनातन-धर्म का जो अर्थ मैं लगाता हूं उसे एक बार अन्तिम रूप से स्पष्ट कर दूं। सनातन शब्द का प्रयोग मैं उसके स्वाभाविक और प्रचलित अर्थ में ही कर रहा हूं।

मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूं कि :

1. मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और हिन्दू-धर्मग्रन्थों के नाम से प्रचलित सारे साहित्य में विश्वास रखता हूं, और इसलिए अवतारों और पुनर्जन्म में भी।

2. मैं वर्णाश्रम धर्म के उस रूप में विश्वास रखता हूं, जो मेरे विचार से विशुद्ध वैदिक है, लेकिन उसके आजकल के लोक-प्रचलित और स्थूल रूप में मेरा विश्वास नहीं है ।

3. मैं गो-रक्षा में उसके लोक-प्रचलित रूपों से कहीं अधिक व्यापक रूप में विश्वास करता हूं।

---

6.10.1921, पृष्ठ 256, पृष्ठ 260-261, खंड-21, गांधी वाङ्मय

4. मैं मूर्ति पूजा में अविश्वास नहीं करता।

पाठक इस बात की ओर ध्यान देगें कि वेदों के सन्दर्भ में मैंने जानबूझ कर अपौरुषेय या ईश्वरीय विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। कारण, मैं ऐसा नहीं मानता कि सिर्फ वेद ही अपौरुषेय हैं–ईश्वरीय हैं। 'बाइबिल' 'कुरान' तथा 'जेन्द अवेस्ता' के पीछे भी मैं उतनी ही ईश्वर-प्रेरणा मानता हूं। इसके अलावा, हिन्दू-धर्मग्रन्थों में मेरा विश्वास मुझे यह नहीं कहता कि मैं उनके एक-एक शब्द, एक-एक पंक्ति को ईश्वर प्रेरित मानूं। न मैं ऐसा ही कोई दावा करता हूं कि मैंने इन अद्भुत ग्रन्थों का मूलरूप में स्वयं अध्ययन किया है लेकिन इतना दावा तो अवश्य करता हूं कि तत्त्वत: वे जो कुछ सिखाते हैं उसके सत्य को मैं जानता हूं और उसका अनुभव करता हूं। उनकी चाहे जितनी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या की जाये, अगर वह मेरे विवेक और नैतिक बुद्धि को नहीं रुचती तो मैं ऐसी किसी भी व्याख्या का बन्धन स्वीकार करने को तैयार नहीं हूं। वर्तमान शंकराचार्यों और शास्त्रियों के हिन्दू-धर्मग्रन्थों की सही व्याख्या देने के किसी भी दावे को (अगर ऐसा दावा किया जाता है तो) मैं जोरदार शब्दों में अस्वीकार करता हूं। इसके विपरीत, मैं ऐसा मानता हूं कि इन ग्रन्थों का हमारा वर्तमान ज्ञान बहुत ही अव्यवस्थित हालत में है। हिन्दुओं के इस सूत्र में मेरा पूर्ण विश्वास है कि जिसने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को सिद्ध नहीं कर लिया, जिसने धन-सम्पत्ति की प्राप्ति की आकांक्षा या उसे रखने की लालसा का त्याग नहीं कर दिया, उसे वास्तव में शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान नहीं होता। मैं गुरु में विश्वास करता हूं, किन्तु इस युग में तो लाखों-करोड़ों लोगों को बिना गुरु के ही रहना होगा, क्योंकि पूर्ण पवित्रता और पूर्ण ज्ञान का संयोग किसी भी एक व्यक्ति में मिल पाना आजकल बहुत कठिन हो गया है। किन्तु, इसी से किसी को ऐसा न मान बैठना चाहिए कि वह तो अपने धर्म के सत्य को कभी जान ही नहीं सकता। कारण, अन्य धर्मों की तरह ही हिन्दू-धर्म के भी बुनियादी सिद्धान्त सनातन हैं, और उन्हें आसानी से समझा जा सकता है। हर हिन्दू ईश्वर और उसकी अद्वितीयता में विश्वास करता है, पुनर्जन्म और मोक्ष को मानता है।

जैसे अपनी पत्नी के बारे में अपनी भावना का वर्णन करना मेरे लिए कठिन है वैसे ही हिन्दू-धर्म के बारे में भी। उसका मुझपर जितना असर होता है, उतना संसार की और किसी स्त्री का नहीं हो सकता। ऐसा नहीं कि उसमें दोष हैं ही नहीं। मैं तो कहूंगा, मुझे उसमें जितने दोष दिखाई देते हैं, दरअसल उससे भी अधिक दोष उसमें होंगे। लेकिन मुझे उसके साथ एक अटूट बन्धन का

अनुभव होता है। मेरी यही भावना हिन्दू-धर्म के बारे में भी है, भले ही उसमें जो दोष हों, उसकी जो सीमाएं हों। हिन्दू-धर्म की दो ही पुस्तकें हैं, जिन्हें जानने का दावा मैं कर सकता हूं। वे हैं—'गीता' और तुलसीकृत 'रामायण'। इन दोनों का संगीत मेरे मन को जितना आह्लादित करता है उतनी और कोई चीज नहीं करती। एक बार जब मुझे लगा कि मेरी अन्तिम घड़ी आ पहुंची है, तब मुझे 'गीता' से ही सांत्वना प्राप्त हुई थी। आजकल हिन्दुओं के बड़े-बड़े मन्दिरों में जो बुराई चल रही है उसे मैं जानता हूं। उनमें ऐसे दोष हैं, जिनका वर्णन भी नहीं किया जा सकता, फिर भी मुझे उनसे प्रेम है। उनमें मैं एक विशेष आकर्षण का अनुभव करता हूं—ऐसा आकर्षण जैसे आकर्षण का अनुभव मैं और किसी चीज के प्रति नहीं करता। मैं आदि से अन्त तक एक सुधारक हूं। लेकिन ऐसा नहीं है कि मैं उत्साहातिरेक में हिन्दू-धर्म की असली चीजों को भी छोड़ दूं। मैंने कहा है, मैं मूर्ति पूजा में अविश्वास नहीं करता। किसी मूर्ति को देखकर मेरे मन में श्रद्धा का कोई भाव नहीं जगता। लेकिन, मैं समझता हूं, मूर्ति पूजा मानव स्वभाव का अंग है। प्रतीकों के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है। अन्यथा अन्य स्थानों की अपेक्षा गिरजाघर में कोई अधिक गम्भीर क्यों हो उठता? मूर्तियां पूजा में सहायक होती हैं। कोई भी हिन्दू मूर्ति को भगवान नहीं समझता। मैं मूर्ति पूजा को पाप नहीं मानता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दू-धर्म कोई वर्जनशील धर्म नहीं है। उसमें दुनिया के सभी नबियों और पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है। वह साधारण अर्थों में प्रचार का ध्येय रखनेवाला धर्म नहीं है। बेशक, इसके अंचल में कई जातियां समा गई हैं, लेकिन यह विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया की तरह और अदृश्य रूप से हुआ है। हिन्दू-धर्म सभी लोगों को अपने-अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना करने को कहता है, और इसलिए इसका किसी धर्म से कोई झगड़ा नहीं है।

हिन्दू-धर्म के विषय में मेरी यह धारणा है और इसलिए मैं अस्पृश्यता को मानने के लिए अपने मन को कभी भी तैयार नहीं कर पाया हूं। मैं बराबर इसे हिन्दू-धर्म का एक भारी दोष मानता आया हूं। यह सच है कि यह दोष हमारे यहां परम्परा से चला आ रहा है, लेकिन यही बात दूसरे बहुत से बुरे रिवाजों के साथ भी लागू होती है। यह सोचकर ही मुझे शर्म आती है कि लड़कियों को लगभग वेश्यावृत्ति के लिए अर्पित कर देना हिन्दू-धर्म का एक अंग था। फिर भी, भारत के कई हिस्सों में यह आजतक प्रचलित है। मैं काली

के आगे बकरे की बलि देना अधर्म मानता हूं और इसे हिन्दू-धर्म का अंग नहीं समझता। हिन्दू-धर्म अनेक युगों का विकास फल है। हिन्दुस्तान के लोगों के धर्म को हिन्दू-धर्म की संज्ञा ही विदेशियों ने दी। इसमें सन्देह नहीं कि किसी समय धर्म के नाम पर पशु-बलि दी जाती थी। लेकिन यह कोई धर्म नहीं है, और हिन्दू-धर्म तो नहीं ही है। और इसी तरह मुझे यह भी लगता है कि जब गो-रक्षा हिन्दुओं का धर्म बन गई तब गोमांस खानेवालों का समाज से बहिष्कार कर दिया गया। इसलिए निश्चय ही समाज में भारी संघर्ष हुआ होगा। यह सामाजिक बहिष्कार सिर्फ इस धार्मिक बन्धन को न माननेवालों पर ही नहीं लागू किया गया, बल्कि उनके पापों का फल उनकी सन्तानों को भी दिया गया। जो रिवाज आरंभ में शायद अच्छे उद्देश्यों से शुरू किया गया वह बाद में कठोर परिपाटी के रूप में बदल गया और हमारे धर्मग्रन्थों में भी कुछ ऐसे श्लोक जोड़ दिये गये जिनसे यह परिपाटी सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण ढंग से स्थायी बन गई। मेरा यह अनुमान सही हो या न हो, अस्पृश्यता बुद्धि के तथा करुणा, दया या प्रेम की भावना के विरुद्ध है। जिस धर्म ने गाय की पूजा का प्रवर्तन किया, वह मनुष्य के निर्दय और अमानवीय बहिष्कार का समर्थन कैसे कर सकता है, उसका औचित्य कैसे ठहरा सकता है? और भले ही कोई मेरे टुकड़े-टुकड़े कर दे, मैं दलित वर्गों का साथ नहीं छोड़ सकता। जब तक हिन्दू अपने उदात्त धर्म को अस्पृश्यता के कलंक से दूषित रखेंगे तब तक वे कभी भी स्वतंत्रता के पात्र नहीं होंगे और न उसे प्राप्त कर सकेंगे। और चूंकि मैं हिन्दू-धर्म को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूं, इसलिए यह कलंक सहना मेरे लिए असम्भव हो गया है। अगर हम अपनी जाति के पांचवें हिस्से को हमसे बराबरी के दर्जे पर मिलने-जुलने के अधिकार से वंचित करते हैं तो उसका मतलब है, हम ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं।

[अंग्रेजी से]

**यंग इंडिया**, 6.10.1921



5

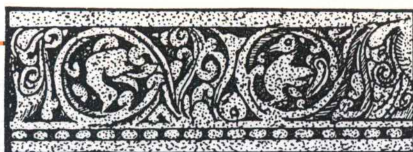
## सनातन हिन्दू

मैं लकीर का फकीर नहीं हूं। इसलिए संसार के विभिन्न धर्मग्रन्थों की भावना को समझने का प्रयत्न करता हूं। मैं उन्हें सत्य और अहिंसा की कसौटी पर कसता हूं; वह कसौटी स्वयं इन ग्रन्थों में ही निर्धारित है। जो कुछ उस कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसे मैं अस्वीकार कर देता हूं और जो खरा उतरता है उसे ग्रहण कर लेता हूं। राम द्वारा वेदों को पढ़ने का साहस करने के कारण एक शूद्र को दण्ड दिये जाने के आख्यान को मैं एक क्षेपक मानकर अस्वीकार करता हूं। कुछ भी हो, मैं जिस राम की उपासना करता हूं, वे मेरी कल्पना के पूर्ण पुरुष हैं। मैं उस ऐतिहासिक राम की उपासना नहीं करता, जिसके जीवन विषयक तथ्य ऐतिहासिक अन्वेषणों और अनुसन्धानों की प्रगति के साथ-साथ बदलते रह सकते हैं। तुलसीदास का ऐतिहासिक राम से कोई मतलब नहीं था। इतिहास की कसौटी पर कसने से उनकी रामायण रद्दी के ढेर पर फेंक देने लायक रह जायेगी। लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति की झांकियां देनेवाली कृति के रूप में उनकी पुस्तक अद्वितीय है, कम-से-कम मेरे लिए तो वह ऐसी ही है। किन्तु तब भी तुलसीदास की 'रामायण' के नाम से प्रकाशित होनेवाले अनेकानेक संस्करणों में मिलनेवाले हर एक शब्द को मैं बिलकुल ठीक नहीं मानता। मैं तो पुस्तक में जो भावना व्याप्त है, उसपर मन्त्र-मुग्ध हूं। शूद्रों के वेदाध्ययन पर लगाये गये प्रतिबन्ध को खुद मैं स्वीकार नहीं कर सकता। मैं तो मानता हूं कि अभी जब तक हम गुलाम हैं, तब तक हम सभी मुख्यतः शूद्र ही हैं।

---

27.8.1925, पृष्ठ 116, खंड-28, गांधी वाङ्मय

ज्ञान पर किसी भी श्रेणी या वर्ग का विशेषाधिकार नहीं हो सकता। हां मैं यह समझ सकता हूं कि जिस प्रकार पहले से तैयारी किये बिना कोई भी व्यक्ति ऊंचाई पर, जहां हवा का घनत्व बहुत कम है, सांस नहीं ले सकता; या जिन्होंने सामान्य गणित की शिक्षा न ली हो, वे रेखागणित या बीजगणित नहीं समझ सकते, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त किये बिना लोगों के लिए उच्चतर या सूक्ष्मतर सत्यों को ग्रहण करना असम्भव है। और अन्त में यह कहूंगा कि मैं कुछ स्वस्थ परम्पराओं में विश्वास रखता हूं। गायत्री के जाप के बारे में भी एक परम्परा है—वह यह कि निर्धारित रीति से स्नानादि कृत्य करने के बाद निश्चित समय पर ही गायत्री का जाप करना चाहिए। चूंकि मैं उन परम्पराओं में विश्वास करता हूं और चूंकि मैं सदैव उनका पालन नहीं कर पाता इसलिए मैं वर्षों से परवर्ती सन्तों का अनुसरण करता रहा हूं और मैं 'भागवत' के द्वादश-मन्त्र के जाप से अथवा तुलसीदास की सरलतर पद्धति के अनुसरण से और 'गीता' तथा अन्य पुस्तकों के कुछ चुने हुए श्लोकों और भाषा के कुछ भजनों के पाठ से ही सन्तोष करता आया हूं। ये मेरे दैनिक आध्यात्मिक आहार हैं। ये ही मेरी 'गीता' हैं। मुझे जिस शान्ति और आत्मतोष की प्रतिदिन आवश्यकता होती है, वह सब इनसे पूरा-पूरा मिल जाता है।



# 6

## माला या चरखा?

मुझे सर्वत्र चरखा ही चरखा दिखाई देता है; क्योंकि मुझे सर्वत्र निर्धनता दिखाई देती है। हिन्दुस्तान के अस्थिपंजर-मात्र लोगों को जब तक अन्न-वस्त्र नहीं मिलता तब तक उनके लिए धर्म नाम की कोई चीज ही दुनिया में नहीं है। वे आज पशुवत् जीवन बिता रहे हैं और इसमें हमारा भी हाथ है। इसलिए चरखा हमारे लिए प्रायश्चित्तरूप है। अपंगों की सेवा करना धर्म है। भगवान हमें अपंगों के रूप में हमेशा दर्शन देते हैं; और हम नित्य तिलक-छापा लगाते हुए भी उनकी और ईश्वर की अवहेलना करते हैं। ईश्वर वेदों में है भी और नहीं भी है। जो वेदों का सीधा अर्थ करता है उसे उनमें ईश्वर की ज्योति दिखाई देती है और जो उनके शब्दों से चिपका रहता है उसे हम 'वेदिया' [पोथी-पण्डित] कहते हैं। हां, नरसिंह मेहता ने माला की स्तुति बेशक की है; परन्तु वहां वह उचित भी थी। उन्हीं मेहता शिरोमणि ने यह भी कहा है :

शुं थयुं तिलकने तुलसी धार्या थकी,
शुं थयुं माल ग्रही नाम लीधे?
शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वद्ये,
शुं थयुं वरणना भेद जाण्ये?

अवश्य ही मुसलमान 'तसबीह' फेरते हैं और ईसाई 'रोजरी'। परन्तु यदि किसी को सांप काट खाये और वे 'तसबीह' या 'रोजरी' छोड़कर उसे मदद देने न जायें तो वे अपने को धर्मभ्रष्ट मानेंगे। ब्राह्मण वेदों को पढ़कर ही धर्मगुरु

---

14.8.1924, पृष्ठ 552-555, खंड-24, गांधी वाङ्मय

नहीं हो जाते। यदि ऐसा होता तो वेदों के ज्ञाता मैक्समूलर भी हमारे धर्मगुरु हो जाते। वर्तमान युग-धर्म को जाननेवाला ब्राह्मण वेदाध्ययन को गौण मानकर अवश्य ही चरखा-धर्म का प्रचार करेगा और करोड़ों क्षुधा-पीड़ितों की भूख मिटाने के बाद ही स्वाध्याय में रत होगा।

मैने चरखा चलाना साम्प्रदायिक धर्मों से श्रेष्ठ माना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्प्रदाय छोड़ दिये जायें। परन्तु जिस धर्म का पालन हर सम्प्रदाय और धर्म के अनुयायियों के लिए लाजिमी है वह तमाम सम्प्रदायों और धर्मों से अवश्य श्रेष्ठ होगा; इसलिए मैं कहता हूं कि जो ब्राह्मण सेवा-भाव से चरखा चलाता है वह अधिक अच्छा ब्राह्मण, वह मुसलमान, अधिक अच्छा मुसलमान और वह वैष्णव, अधिक अच्छा वैष्णव बनता है।

किन्तु जब मैं इतना एकाग्र हो जाता हूं कि मुझे माला विघ्नरूप मालूम होती है तब मैं उसे छोड़ देता हूं। यदि मैं सोते-सोते चरखा चला सकूं और मुझे रामनाम लेने में उसकी सहायता की जरूरत मालूम हो तो मैं अवश्य माला के बजाय चरखा ही चलाऊं। यदि मुझमें माला और चरखा दोनों को फेरने का सामर्थ्य हो और मुझे दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो जब तक देश गरीबी और फाकाकशी से पीड़ित है तब तक मैं चरखारूपी माला फेरना ही पसन्द करूंगा। मैं ऐसे समय की प्रतीक्षा में हूं जब मुझे रामनाम का जप करना भी उपाधि रूप मालूम होने लगे। जब यह अनुभव होगा कि 'राम' वाणी से भी परे है तब 'नाम' लेने की जरूरत ही न रह जायेगी। चरखा, माला और राम नाम; ये मेरे लिए जुदी-जुदी चीजें नहीं हैं। मुझे तो ये तीनों ही सेवा-धर्म की शिक्षा देते हैं। मैं सेवा-धर्म का पालन किये बिना अहिंसा धर्म का पालन नहीं कर सकता और मैं अहिंसा धर्म का पालन किये बिना सत्य की खोज नहीं कर सकता। सत्य के सिवा धर्म नहीं। सत्य ही राम है, नारायण है, ईश्वर है, खुदा है, अल्लाह है, गॉड है।



# 7

## छुआछूत

धर्म के नाम पर हम हिन्दुओं ने बाहरी बातों का खूब आडम्बर रच रखा है और धर्म को केवल खानपान का विषय बनाकर उसकी प्रतिष्ठा कम कर दी है। ब्राह्मणत्व को जो अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है उसका कारण है ज्ञान से प्रदीप्त निःस्पृहता, अन्तः करण की शुद्धि और घोर तपस्या। हिन्दू लोग यदि खानपान और छूतछात के आध्यात्मिक प्रभाव को अनुचित महत्त्व देंगे तो इसका कुफल उन्हें मिले बिना नहीं रह सकता। हमें आन्तरिक पवित्रता का अधिक विचार करना चाहिए; हम अनेक आन्तरिक प्रलोभनों से घिरे हुए हैं; घोर से घोर अस्पृश्य और पापपूर्ण विचारों का प्रवाह हमें स्पर्श कर रहा है और अपवित्र बना रहा है। ऐसी दशा में हम अपनी पवित्रता के घमण्ड में मस्त होकर अपने उन भाइयों के स्पर्श के प्रभाव को तिल का ताड़ न बनायें, जिन्हें हम अज्ञानवश और उससे भी अधिक अपने बड़प्पन की ठसक में अपने से नीचा समझते हैं। उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा के दरबार में हमारी पहचान इस बात से नहीं होगी कि हमने क्या-क्या खाया पिया है और किस-किस का स्पर्श किया है; बल्कि इस बात से होगी कि हमने किस-किस की सेवा की है और किस-किस तरह से की है। यदि हमने किसी भी विपत्तिग्रस्त और दुःखी मनुष्य की सेवा की होगी तो वह अवश्य हम पर कृपा-दृष्टि डालेगा। जिस प्रकार हमें बुरे लोगों और बुरी बातों के संसर्ग से बचना चाहिए उसी प्रकार खराब, उत्तेजक और गन्दे खानपान से भी दूर रहना चाहिए। परन्तु हमें इन नियमों की महिमा को

5.1.1922, पृष्ठ 144-145, खंड-22, गांधी वाङ्मय

आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। हम भोजन के रूप में अमुक वस्तुओं के त्याग का उपयोग अपने कपट-जाल, धूर्तता और पापाचरण को छिपाने के लिए नहीं कर सकते। और इस आशंका से कि कहीं उनका स्पर्श हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक न हो, हमें किसी पतित या गन्दे भाई-बहन की सेवा से हरगिज मुंह न मोड़ना चाहिए।



8

## मेरा जीवन कार्य

मेरा नाम पैगम्बर के साथ लिया जाये, मैं अपने को इस योग्य नहीं समझता। मैं तो एक विनम्र सत्य-शोधक हूं। मैं इसी जन्म में आत्म-साक्षात्कार करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अधीर हूं। मैं अपने देश की जो सेवा कर रहा हूं वह तो मेरी उस साधना का एक अंग है जिसके द्वारा मैं पंचभौतिक देह-धारण से अपनी आत्मा को मुक्त करना चाहता हूं। इस दृष्टि से मेरी देश सेवा केवल स्वार्थ-साधना समझी जा सकती है। मुझे इस नाशवान् ऐहिक राज्य की कोई अभिलाषा नहीं है। मैं तो ईश्वरीय-राज्य-मोक्ष को पाने का प्रयत्न कर रहा हूं। अपने इस ध्येय की सिद्धि के लिए मुझे गुफा में जाकर बैठने की कोई आवश्यकता नहीं। गुफा तो मैं अपने साथ ही लिये फिरता हूं। अलबत्ता इसकी प्रतीति-भर हो जाये। गुफा-निवासी साधक मन में महल खड़े कर सकता है; पर जनक जैसे महल में रहनेवालों को ऐसे महल बनाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। जो गुफावासी विचारों के पंखों पर बैठकर दुनिया के चारों ओर मंडराता है, उसे शान्ति कहां? परन्तु जनक राजमहलों में आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करते हुए भी कल्पनातीत शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। मेरे लिए तो मुक्ति का मार्ग है अपने देश और उसके द्वारा मनुष्य जाति की सेवा के निमित्त सतत् परिश्रम करना। मैं संसार के प्राणिमात्र से अपना तादात्म्य कर लेना चाहता हूं। मैं 'समः शत्रौ च मित्रे च' हो जाना चाहता हूं। इसीलिए यदि कोई मुसलमान, हिन्दू या ईसाई मुझसे नफरत करता हो, तो भी मैं उसको उसी भाव से प्रेम करना चाहता हूं,

---

3.4.1924, पृष्ठ 373, खंड-23, गांधी वाङ्मय

जिस भाव से मैं अपनी पत्नी और बेटे को, उनके नफरत करने के बावजूद, प्रेम करता हूं। इस प्रकार मेरी देशभक्ति और कुछ नहीं, अपनी चिर-मुक्ति और शान्ति-लोक की मंजिल का एक विश्राम स्थान है। इससे यह मालूम हो जाता है कि मेरे समीप धर्म-शून्य राजनीति कोई वस्तु नहीं है। राजनीति धर्म की अनुचरी है। धर्महीन राजनीति को एक फांसी ही समझा जाये, क्योंकि उससे आत्मा मर जाती है।

[अंग्रेजी से]
**यंग इंडिया**, 3.4.1924



9

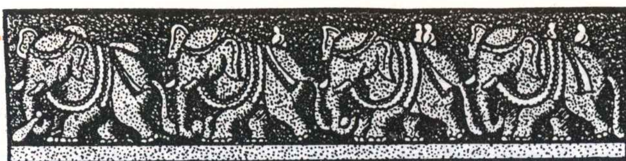
# शुद्धि और तबलीग

मेरे विचार से उस अर्थ में हिन्दू-धर्म में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। मुझे तो लगता है कि अपने प्रचार की योजना बनाने में आर्य समाजियों ने ईसाइयों की नकल की है। अपने धर्म के प्रति विश्वास पैदा कराने का यह आधुनिक तरीका मुझे नहीं जंचता। इससे हित के बजाय हानि ही हुई है। धर्मान्तरण विशुद्ध रूप से हृदय की और व्यक्ति-विशेष तथा उसके स्रष्टा के बीच की चीज मानी जाती है; किन्तु आज इसका ऐसा पतन हुआ है कि इसके लिए मनुष्य की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों को उभारने का तरीका अपनाया जाने लगा है। आर्य समाजी उपदेशकों को जो मजा दूसरे धर्मों पर कीचड़ उछालने में आता है, वह मजा और किसी बात में नहीं आता। एक हिन्दू के नाते मेरी सहज बुद्धि तो यही कहती है कि सभी धर्म न्यूनाधिक सच्चे हैं। सबकी उत्पत्ति एक ही ईश्वर से है। फिर भी सब धर्म अपूर्ण हैं; क्योंकि वे हमें मनुष्य के द्वारा प्राप्त हुए हैं; और मनुष्य तो कभी पूर्ण नहीं होता। सच्चा शुद्धि-कार्य तो मैं इसे मानूंगा कि हर व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अपने-अपने धर्म में रहकर पूर्णत्व प्राप्त करने की कोशिश करे। ऐसी योजना में चरित्र ही एकमात्र कसौटी होगा। एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को स्वीकार करने से अगर नैतिक उत्थान न होता हो तो ऐसे धर्म-परिवर्तन से क्या लाभ? जब मेरे सहधर्मी लोग ही अपने आचरण में रोज रोज ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार कर रहे हों तब फिर ईश्वर की सेवा के लिए, क्योंकि शुद्धि या तबलीग का मतलब यही मानना चाहिए, दूसरे

---

29.5.1924, पृष्ठ 152-153, खंड-24, गांधी वाङ्मय

धर्म के लोगों को मैं अपने धर्म की दीक्षा किस लिए दूं? 'रंगरेज पहले अपनी पगड़ी रंग' वाली कहावत लौकिक मामलों से धार्मिक मामलों पर कहीं अधिक लागू होती है। परन्तु ये मेरे निजी विचार हैं। अगर आर्य समाजियों को लगता हो कि उनकी अन्तरात्मा उन्हें इस आन्दोलन के लिए प्रेरित कर रही है तो इसे चलाने का उन्हें पूरा हक है। यह उत्कट अन्तर्नाद समय की मर्यादा या अनुभव के अंकुश को स्वीकार नहीं करता। यदि अन्तरात्मा की आवाज पर किसी आर्य समाजी या मुसलमान के अपने धर्म का प्रचार करने के कारण ही हिन्दू-मुस्लिम एकता खतरे में पड़ जाती है तो निश्चय ही वह एकता सतही है। हम ऐसे आन्दोलनों से इतना क्यों घबरायें? लेकिन तब इन आन्दोलनों को शुद्ध भाव से प्रेरित होना चाहिए। अगर मलकाना लोग फिर से हिन्दू-धर्म अंगीकर करना चाहें तो वे जब चाहें तब उन्हें ऐसा करने का पूरा-पूरा हक है। परन्तु अपने धर्म का प्रचार करने के लिए दूसरे धर्मों की निन्दा करने की प्रवृत्ति नहीं चलने दी जा सकती; क्योंकि यह सहिष्णुता की भावना के नितान्त विपरीत है। इस ढंग के प्रचार का मुकाबला करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि खुले आम उसकी भर्त्सना की जाये।



## 10

# हिन्दू क्या करें?

यद्यपि हिन्दुस्तान के अधिकांश मुसलमान और हिन्दू एक ही 'नस्ल' के हैं तो भी धार्मिक वातावरण ने उनको एक-दूसरे से भिन्न बना दिया है। मैं इस बात को मानता हूं और मैंने देखा भी है कि विचारों के कारण मनुष्य का रूप और स्वभाव बदल जाया करता है। सिख लोग इस बात की ताजा मिसाल हैं। मुसलमान बहुधा अल्पसंख्यक ही हैं और इसलिए समुदाय के रूप में वे आततायी बन गये हैं। फिर वे एक नई परम्परा के वारिस हैं। इससे उनमें जीवन की इस अपेक्षाकृत नई प्रणाली के अनुरूप साहस दिखाई देता है। मेरी राय में तो 'कुरान' में अहिंसा का मुख्य स्थान है; पर 1300 साल से साम्राज्य विस्तार करते आने के कारण मुसलमान जाति लड़ाकू जाति हो गई है। इसलिए उन्हें धींगामस्ती की आदत पड़ गई है। गुण्डापन धींगामस्ती का एक स्वाभाविक परिणाम है। हिन्दू लोगों की सभ्यता बहुत प्राचीन है और उनमें अहिंसा समायी हुई है। उनकी सभ्यता उन सारे अनुभवों में से कब की गुजर चुकी है जिनमें से ये दो नई जातियां अभी गुजर ही रही हैं। अगर हिन्दू-धर्म में आजकल के अर्थ में कभी साम्राज्यवादिता रही भी हो तो एक तो वह जमाना बीत गया है इसलिए और दूसरे उसने या तो स्वयं सोच-विचारकर या कालचक्र की गति के अधीन होकर उसका त्याग कर दिया है। यहां अहिंसा भाव की प्रधानता होने के कारण शास्त्रास्त्रों का प्रयोग कुछ ही जातियों तक सीमित हो गया और इन जातियों ने उच्च कोटि के अध्यात्मवादी विद्वान और त्यागी लोगों के

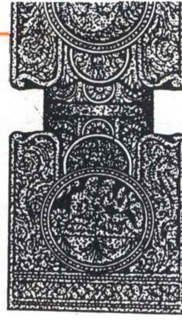
---

19.6.1924, पृष्ठ 276-277, खंड-24, गांधी वाङ्मय

अनुशासन में चलना सदा अपना धर्म माना। इसलिए समाज के रूप में हिन्दुओं के पास वे मानसिक उपकरण नहीं हैं जो लड़ने-भिड़ने के लिए आवश्यक होते हैं। परन्तु अपने आध्यात्मिक प्रशिक्षण को अक्षुण्ण न रख सकने के कारण वे शस्त्र की जगह किसी दूसरे कारगर साधन का प्रयोग करना भूल गये और शस्त्र की उपयोग-विधि के न जानने तथा उसके प्रति झुकाव न होने के कारण उनमें इतनी नम्रता आ गई कि जिसे भीरुता और दब्बूपन भी कहा जा सकता है। इस तरह यह दुर्गुण उनके सौजन्य का एक स्वाभाविक परिणाम बन गया है।

ऐसा मत रखते हुए भी मेरी यह धारणा नहीं है कि हिन्दुओं की हदबन्दी की खासियत का-जो कि बुरी तो है ही-उनकी भीरुता से कोई खास सम्बन्ध है। आत्मरक्षा के लिए अखाड़ों के उपयोग पर जो मेरा विश्वास नहीं है, उसका कारण भी यही है। शारीरिक बल को बढ़ाने के लिए मैं उनको उपयोगी मानता जरूर हूं, मगर आत्मरक्षा के लिए तो मैं आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा को ही पुनरुज्जीवित करना पसन्द करूंगा। आत्मरक्षा का सबसे अच्छा और चिरस्थायी साधन है-आत्मशुद्धि। मैं इन मिथ्या भयों से डरनेवाला नहीं हूं। अगर हिन्दू लोग सिर्फ आत्म-विश्वास रखें और अपनी परम्परा के अनुसार आचरण करते रहें तो उन्हें गुण्डेपन से डरने की कोई जरूरत ही न रहे। वे जिस घड़ी वास्तविक आध्यात्मिक शिक्षा को फिर से अपना लेंगे, उसी दिन से मुसलमानों के दिल पर उसका असर पड़ने लगेगा और ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता। अगर मेरे पास कुछ ऐसे हिन्दू युवकों की एक टोली हो, जो खुद अपने में भरोसा रखते हों और इसलिए मुसलमानों में भी जिनका भरोसा हो तो उनका यह दल कमजोर लोगों के लिए ढाल बन जायेगा। वे (हिन्दू युवक) यह सिखा देंगे कि बिना मारे किस तरह मरा जा सकता है। मेरे विचार से दूसरा रास्ता है ही नहीं। जब हमारे पूर्वज लोगों पर संकट आ पड़ता था तब वे तपस्या-आत्म-शुद्धि करते थे। वे शरीर को असमर्थ समझकर दीनभाव से परमेश्वर से प्रार्थना करते और तब तक प्रार्थना ही करते रहते जब तक वह उनकी पुकार पर दौड़ने के लिए मजबूर नहीं हो जाता था। लेकिन इसपर मेरे हिन्दू मित्र कहेंगे-हां, मगर ईश्वर ने तो अवतारों को धनुष-बाण या चक्र सुदर्शन लेकर ही भेजा। मैं इसकी यथार्थता से इनकार नहीं करता। हिन्दुओं से मेरा कहना सिर्फ इतना ही है कि हिन्दू होने के नाते वे कारण की अवहेलना करके फल प्राप्त नहीं कर सकते।

जब हम काफी तपस्या कर चुकेंगे तब कहीं संग्राम के योग्य बन सकते हैं। मैं पूछता हूं कि क्या हम पर्याप्त मात्रा में शुद्ध बन गये हैं। व्यक्तिगत पवित्रता की बात तो दूर रही, क्या अस्पृश्यता-सम्बन्धी अपने पाप तक का प्रायश्चित्त हमने तत्पर भाव से किया है? क्या हमारे धर्माचार्य और धर्मगुरु ठीक वैसे ही हैं जैसा उन्हें होना चाहिए? जब तक हम मुसलमानों के छिद्र ढूंढने में ही अपनी सारी शक्ति लगाते रहेंगे तब तक मानो हम अपने हाथ-पैर अधर में ही मारते रहेंगे।



11

# हिन्दू-धर्म की स्थिति

हिन्दू-धर्म एक जीवित धर्म है। उसमें चढ़ाव और उतार होते ही रहते हैं। वह संसार के नियमों का ही अनुसरण करता है। मूल में वृक्ष तो एक ही है; लेकिन उसकी शाखा-प्रशाखाएं विविध हैं। उसपर ऋतुओं का असर होता है। उसमें वसन्त भी होता है और पतझड़ भी; शरद् ऋतु भी होती है और ग्रीष्म ऋतु भी। वह वर्षा से भी अप्रभावित नहीं रहता। उसके लिए शास्त्र हैं और नहीं भी हैं। उसका आधार एक ही धर्मपुस्तक नहीं है। 'गीता' सर्वमान्य है; लेकिन वह केवल मार्गदर्शिका है। रूढ़ियों पर उसका असर बहुत कम होता है। हिन्दू-धर्म गंगा का प्रवाह है। वह मूल में शुद्ध है। उसमें मार्ग में मलिनता आती है, फिर भी जिस प्रकार गंगा की प्रवृत्ति अन्त में पोषक है उसी प्रकार हिन्दू-धर्म की प्रवृत्ति भी अन्तत: पोषक है। हर एक प्रान्त में वह प्रान्तीय स्वरूप ग्रहण करता है, फिर भी उसमें एकता तो है ही। रूढ़ि धर्म नहीं है। रूढ़ि में परिवर्तन होगा; लेकिन फिर भी धर्मसूत्र तो वैसे के वैसे ही बने रहेंगे।

हिन्दू-धर्म की शुद्धता हिन्दुओं की तपश्चर्या पर निर्भर करती है। जब-जब इस धर्म पर संकट आया है, तब-तब हिन्दू-धर्मावलम्बियों ने तपस्या की है, उसकी मलिनता के कारण ढूंढे हैं और उनका निदान किया है। उसके शास्त्रों में वृद्धि होती ही रहती है। 'वेद', 'उपनिषद्', 'स्मृति', 'पुराण' और इतिहासादि का एक साथ एक ही समय में सृजन नहीं हुआ है; बल्कि प्रसंग आने पर ही विभिन्न ग्रन्थों की सृष्टि हुई है। इसलिए उनमें परस्पर विरोधी बातें तक मिल

---

7.2.1926, पृष्ठ 436-439, खंड-29, गांधी वाङ्मय

जाती हैं। उनमें शाश्वत सत्य नहीं वरन् उनके समय में शाश्वत सत्य का आचरण किस प्रकार किया गया था यही बताया गया है। उस समय जैसा आचरण किया गया था वैसा ही आचरण दूसरे समय में भी किया जाये तो हम निराशा के कूप में ही जा गिरेंगे। एक समय हमारे यहां पशु-यज्ञ होता था; क्या इसलिए आज भी करें? एक समय हम मांसाहार करते थे, इसलिए क्या हमें आज भी वैसा करना चाहिए? एक समय चोरों के हाथ-पैर काट डाले जाते थे; क्या हम आज भी उनके हाथ-पैर काटें? एक समय हमारे यहां बहुपति प्रथा थी, क्या आज भी उसे रखा जा सकता है? एक समय हम नन्हीं-नन्हीं बालिकाओं का विवाह कर देते थे तो क्या हम आज भी वैसा ही करें? एक समय हम लोगों ने कुछ मनुष्यों को तिरस्कृत माना था; क्या इसलिए हम आज उनकी सन्तानों को भी तिरस्कृत ही मानें?

हिन्दू-धर्म जड़ बनने से साफ इनकार करता है। ज्ञान अनन्त है, सत्य की सीमा कोई खोज नहीं पाया है। आत्मा की शक्ति की नई-नई शोधें होती ही रहती हैं और होती ही रहेंगी। हम अनुभव के पाठ पढ़ते हुए अनेक प्रकार के परिवर्तन करते रहेंगे? सत्य तो एक ही है, लेकिन उसे सम्पूर्ण रूप से कौन जान सका है? 'वेद' सत्य है, 'वेद' अनादि है, लेकिन उसे पूर्णतया कौन जान सका है? आज जो 'वेद' के नाम से विख्यात है वह तो 'वेद' का करोड़वां भाग भी नहीं है। जो हम लोगों के पास है उसका अर्थ भी पूर्णतया कौन जानता है?

इतना बड़ा जाल होने के कारण ही तो ऋषियों ने हमें एक बहुत बड़ी बात सिखाई है, 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'। ब्रह्माण्ड का पृथक्करण करना असम्भव है। अपना पृथक्करण करके देखना शक्य है। और अपने आपको पहचाना कि सारे संसार को पहचान लिया। लेकिन अपने को पहचानने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। और वह प्रयत्न भी निर्मल होना चाहिए। निर्मल हृदय के बिना प्रयत्न का निर्मल होना असम्भव है। यम-नियमादि के पालन के बिना हृदय की निर्मलता भी सम्भव नहीं है। ईश्वर की कृपा के बिना यम-नियमादि का पालन कठिन है, श्रद्धा और भक्ति के बिना ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए तुलसीदासजी ने रामनाम की महिमा गाई है और भागवतकार ने द्वादशाक्षर-मन्त्र सिखाया है। जो हृदय से इनका जप कर सकता है वही सनातनी हिन्दू है।

बाकी और सब तो अखा भगत की भाषा में 'अन्ध कूप' हैं।

अब लेखक की शंकाओं का विचार करें। यूरोपीय लोग हमारे रीति-रिवाजों को देखते अवश्य हैं; लेकिन मैं उसे अध्ययन के जैसा सुन्दर नाम न दूंगा। वे तो उन्हें आलोचना करने की दृष्टि से ही देखते हैं, इसलिए मैं अपना धर्म उनके पास से नहीं सीख सकता।

लेकिन हिन्दू-धर्म की परिसीमा खाद्याखाद्य में ही नहीं है। उससे अनन्तकोटि अधिक महत्त्व की बात अन्तराचरण है, सत्य और अहिंसादि का सूक्ष्म पालन है। गोमांस का त्याग करनेवाले दम्भी मुनि की अपेक्षा गोमांस खानेवाला दयामय, सत्यमय और ईश्वर का भय मानकर चलनेवाला मनुष्य हजार गुना अधिक अच्छा हिन्दू है। और जो सत्यवादी और सत्याचारी है, जिसने गोमांसादि के आहार में हिंसा देखी है, जिसने उसका त्याग किया है तथा जो जीव-मात्र के प्रति दयाभाव रखता है उसे तो हमारे कोटिशः नमस्कार हैं। उसने तो ईश्वर को देखा है, पहचाना है, वह परमभक्त है, वह जगद्गुरु है।

आज हिन्दू-धर्म की और अन्य धर्मों की परीक्षा हो रही है। सनातन सत्य एक ही है। ईश्वर भी एक ही है। लेखक, पाठक और हम सब मतमतान्तरों के मोह-जाल में न फंसकर सत्य के सरल मार्ग का ही अनुसरण करेंगे तभी हम लोग सनातनी हिन्दू रह सकेंगे। सनातनी माने जानेवाले तो बहुत से लोग भटक रहे हैं। उसमें कौन जानता है कि किसका स्वीकार होगा। रामनाम लेनेवाले बहुत से रह जायेंगे और चुपचाप राम का काम करनेवाले थोड़े से लोग विजयमाला पहन लेंगे।

[गुजराती से]
**नवजीवन**, 7.2.1926



12

## अस्पृश्यता-रूपी रावण

यदि हम अपनी आज की स्थिति पर उन कथाओं का अभिप्राय न समझे तो पुराणों की कुछ कथाएं तो बहुत ही खतरनाक कही जा सकती हैं। यदि हम अपना जीवन शास्त्रों में कही हुई हरेक छोटी-बड़ी बात के अनुसार बनायें या हम उसमें वर्णित पात्रों का ठीक-ठीक अनुकरण करने लगें तो ये शास्त्र हमारे लिए प्राण-घातक जाल ही बन जायेंगे। हमें उनसे तो केवल सिद्धान्त की मुख्य-मुख्य बातें स्पष्ट करने या उन्हें ठीक-ठीक समझने में सहायता मिलती है। यदि किसी धार्मिक ग्रन्थ में किसी प्रसिद्ध पुरुष के कोई पाप करने का उल्लेख हो तो क्या उससे हमें भी पाप करने की आज्ञा मिल जाती है? यदि हमसे उन्होंने केवल एक बार ही यह कह दिया कि इस संसार में केवल सत्य की ही सत्ता है और सत्य परमेश्वर के तुल्य है, तो हमारे लिए इतना ही बहुत है। यह कहना कि युधिष्ठर को भी झूठ बोलना पड़ा था; अनुपयुक्त होगा। यह कहना उसकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगा कि जब वे झूठ बोले, उन्हें उसी समय, उसी क्षण, कष्ट झेलना पड़ा और उनकी प्रसिद्धि और समाज में बड़ा स्थान दण्ड पाने के समय आड़े न आये। उसी प्रकार हमारा यह कहना भी अप्रस्तुत ही होगा कि आदि शंकराचार्य ने किसी चाण्डाल को दूर रहने को कहा था। हमारा यही जान लेना यथेष्ट होगा कि जिस धर्म में यह सिखाया जाता है कि प्राणिमात्र के साथ आत्मोपम व्यवहार करो, उस धर्म को किसी तुच्छ जीव के प्रति निष्ठुर व्यवहार भी असह्य है, बिल्कुल निर्दोष मनुष्यों के एक पूरे समाज की बात तो दूर ही

---

29.7.1926, पृष्ठ 220-221, खंड-31, गांधी वाङ्मय

रही। इसके अलावा हमें वह सब मालूम भी तो नहीं है जिससे हम यह जान सकें कि आदि शंकराचार्य ने क्या किया था और क्या नहीं किया था। यहां चाण्डाल शब्द का किस अर्थ में व्यवहार हुआ है उसके बारे में तो हमें और भी कम मालूम है। यह तो सभी मानते हैं कि इसके अनेक अर्थ हैं जिनमें से एक अर्थ है पापी। यदि सभी पापियों को अछूत माना जाये तो भय है कि हम सभी अछूत बन जायेंगे और स्वयं हमारे पण्डितजी भी नहीं बच सकेंगे। अस्पृश्यता की प्राचीनता से कोई इनकार नहीं करता; परन्तु यदि इसे दोष मानना है तो फिर प्राचीनता के नाम पर इसका समर्थन नहीं किया जा सकता।



# 13

## तुलसीदासजी

रामायण को आप सर्वोत्तम ग्रंथ मानते हैं, परन्तु समझ में नहीं आता क्यों? देखिए, तुलसीदासजी ने स्त्री-जाति की कितनी निन्दा की है? बालि-वध का कैसा समर्थन किया है, विभीषण के देशद्रोह की किस कदर प्रशंसा की है। सीताजी पर घोर अन्याय करनेवाले राम को अवतार बताया है। ऐसे ग्रन्थ में आप कौनसा सौन्दर्य देख पाते हैं? आप कहीं तुलसीदासजी के काव्य-चातुर्य के लिए तो रामायण को सर्वोत्तम ग्रन्थ नहीं समझते? यदि ऐसा हो तो, कहना पड़ेगा कि आपको काव्य-परीक्षा का कोई अधिकार नहीं है।

उपरोक्त सारे प्रश्न एक ही मित्र के नहीं हैं; भिन्न-भिन्न मित्रों ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर जो कुछ कहा और लिखा है, यह उसका सार है। यदि ऐसी एक-एक बात को लेकर देखें तो, सारी की सारी रामायण दोषमय सिद्ध की जा सकती है। सन्तोष यही है कि इस तरह प्रत्येक ग्रन्थ और प्रत्येक मनुष्य दोषमय सिद्ध किया जा सकता है। एक चित्रकार ने अपने टीकाकारों को उत्तर देने के लिए अपने चित्र को प्रदर्शनी में रखा और नीचे इस तरह लिखा, ''इस चित्र में जिसको जिस जगह दोष प्रतीत हों, वह उस जगह अपनी कलम से चिह्न कर दे।'' परिणाम यह हुआ कि चित्र के अंग-प्रत्यंग दोषपूर्ण बताये गये। मगर वस्तुस्थिति यह थी कि वह चित्र अत्यन्त कलायुक्त था। टीकाकारों ने तो वेद, बाइबल और कुरान में भी बहुतेरे दोष बताये हैं, परन्तु उन ग्रन्थों के भक्त

---

10.10.1929, पृष्ठ 589-591, खंड-41, गांधी वाङ्मय

उनमें दोषों का अनुभव नहीं करते। प्रत्येक ग्रन्थ की परीक्षा समूचे ग्रन्थ के मर्म को देखकर ही की जानी चाहिए। यह बाह्य परीक्षा है। अधिकांश पाठकों पर ग्रन्थ-विशेष का क्या असर हुआ है, यह देखकर ही ग्रन्थ की आन्तरिक परीक्षा की जाती है। किसी भी साधन से क्यों न देखा जाये रामायण की श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है। ग्रन्थ को सर्वोत्तम कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें एक भी दोष नहीं है। परन्तु रामचरितमानस के बारे में यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों मनुष्यों को शान्ति मिली है। ईश्वर-विमुख लोग उसके पारायण से ईश्वर-सम्मुख हुए हैं और आज भी होते जा रहे हैं। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभव-जन्य ज्ञान का भण्डार है।

यह बात ठीक है कि पापी अपने पाप का समर्थन करने के लिए रामचरितमानस का सहारा लेते हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि लोग रामचरितमानस में से अकेले पाप का ही पाठ सीखते हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि तुलसीदासजी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है। इसमें और ऐसी ही अन्य बातों में तुलसीदासजी अपने युग की प्रचलित मान्यताओं से परे नहीं जा सके; अर्थात् तुलसीदासजी सुधारक नहीं, बल्कि भक्त-शिरोमणि थे। इन बातों में हम तुलसीदासजी के दोषों का नहीं, परन्तु उनके युग के दोषों का दर्शन अवश्य करते हैं।

ऐसी दशा में सुधारक क्या करें? क्या उनको तुलसीदासजी से कुछ सहायता नहीं मिल सकती? अवश्य मिल सकती है। रामचरितमानस में स्त्री-जाति की काफी निन्दा मिलती है, परन्तु उसी ग्रन्थ द्वारा सीताजी के पुनीत चरित्र का भी हमें परिचय मिलता है। बिना सीता के राम कैसे? राम का यश सीताजी पर निर्भर है। सीताजी का रामजी पर नहीं। कौशल्या, सुमित्रा आदि भी मानस के पूजनीय पात्र हैं। शबरी और अहिल्या की भक्ति आज भी सराहनीय है। रावण राक्षस था, मगर मन्दोदरी सती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस पवित्र भण्डार में से मिल सकते हैं। मेरे विचार में इन सब दृष्टान्तों से यही सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी ज्ञानपूर्वक स्त्री-जाति के निन्दक नहीं थे। ज्ञानपूर्वक तो वे स्त्री-जाति के पुजारी ही थे। यह तो स्त्रियों की बात हुई।

परन्तु बालि-वधादि के बारे में भी दो मतों की गुंजाइश है। विभीषण में तो मैं कोई दोष नहीं पाता हूं। विभीषण ने अपने भाई के साथ सत्याग्रह किया था। विभीषण का दृष्टान्त हमें यह सिखाता है कि अपने देश या अपने शासक

के दोषों के प्रति सहानुभूति रखना या उन्हें छिपाना देशभक्ति के नाम को लजाना है, इसके विपरीत देश के दोषों का विरोध करना सच्ची देशभक्ति है। विभीषण ने रामजी की सहायता करके देश का भला ही किया था। सीताजी के प्रति रामचन्द्र के बर्ताव में निर्दयता नहीं थी, उसमें राजधर्म और पति-प्रेम का द्वन्द्व-युद्ध था।

जिसके दिल में इस सम्बन्ध की शंकाएं शुद्ध भाव से उठें, उन्हें मेरी सलाह है कि वे मेरे या किसी और के अर्थ को यन्त्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषय में हृदय शंकित है, वे उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादि की विरोधिनी किसी वस्तु को स्वीकार न करें। रामचन्द्र ने छल किया था, इसलिए हम भी छल करें, यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामादि कभी छल नहीं कर सकते, हम पूर्ण पुरुष का ही ध्यान करें और पूर्ण ग्रन्थ का ही पठन-पाठन करें। परन्तु 'सर्वारम्भा हि दोषेण घूमेनाग्निरिवावृता' न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं, यह समझकर हंसवत् दोष-रूपी नीर को निकाल फेंकें और गुण-रूपी क्षीर ही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्ण में सम्पूर्ण की प्रतिष्ठा करना, गुणदोष का पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगों की परिस्थिति पर निर्भर रहेगा। स्वतन्त्र सम्पूर्णता केवल ईश्वर में ही है और वह अकथनीय है।.

**हिन्दी नवजीवन,**
10.10.1929



14

## बातचीत: बेसिल मैथ्यूज आदि के साथ

श्री मैथ्यूज यह जानने को उत्सुक थे कि क्या गांधीजी कोई आध्यात्मिक साधना करते हैं और किस तरह के अध्ययन को उन्होंने विशेष रूप से सहायक पाया है।

गां. : योग-साधनाएं मुझे नहीं आतीं। मैं जो साधना करता हूं वह मैंने बचपन में अपनी धाय से सीखी थी। मुझे भूत-प्रेत से डर लगता था। वह मुझसे कहा करती थी: 'भूत-प्रेत नहीं होते, पर यदि तुम्हें डर लगता है तो रामनाम जपो'। बचपन की इस सीख ने मेरे अन्तर्मन में एक विराट रूप ले लिया। यह एक ऐसा सूर्य है जिसने गहनतम अंधकार की मेरी घड़ियों को आलोकित किया है। इसी तरह की सान्त्वना ईसाई ईसा का नाम और मुसलमान अल्लाह का नाम जपकर पा सकता है। इन सब चीजों के एक से फलितार्थ हैं और एक जैसी परिस्थितियों में इनके एक जैसे परिणाम होते हैं। शर्त सिर्फ यही है कि जप केवल ओठों से नहीं, बल्कि आपके अंतर से होना चाहिए। सहायक अध्ययन का जहां तक सवाल है, हम भगवद्गीता का नियमित रूप से पाठ करते हैं और अब तो यह स्थिति हो गई है कि प्रतिदिन प्रात: कुछ अध्यायों का पाठ करते हुए हम एक सप्ताह में पूरी गीता का पाठ कर लेते हैं। फिर भारत के विभिन्न सन्तों के भजन होते हैं और उनमें हम ईसाई भजनों को भी सम्मिलित करते हैं। खानसाहब क्योंकि हमारे साथ हैं, इसलिए हम कुरान की भी आयतें पढ़ते हैं। हम सभी धर्मों की समानता में विश्वास रखते हैं। तुलसीकृत रामायण के पाठ से मुझे सबसे अधिक शान्ति मिलती है। न्यू टेस्टामेंट और कुरान के पाठ

---

5.12.1936, पृष्ठ 85-86, खंड-64, गांधी वाङ्मय

से भी मुझे शान्ति मिली है। मैं उन्हें आलोचक की दृष्टि से नहीं देखता। वे मेरे लिए भगवद्‌गीता की तरह ही महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि उनकी हर बात, उदाहरण के लिए पॉल के धर्म-पत्रों की हर बात-मुझे अपील नहीं करती। तुलसीदास' की भी हर बात मुझे अपील नहीं करती।'गीता' ऐसा विशुद्ध धर्मोपदेश है जिसमें कोई दोष नहीं है। वह तो परमात्मा की ओर जीवात्मा की यात्रा का वर्णन है। अतः उसमें चयन का प्रश्न ही नहीं उठता।

मै. : आप वस्तुतः प्रोटेस्टेण्ट हैं।

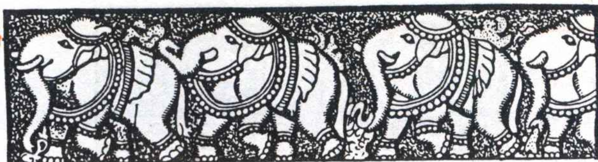
गां. : मुझे नहीं मालूम कि मैं क्या हूं या क्या नहीं हूं। श्री हॉज मुझे प्रेसबीटेरियन कहेंगे।

मै. : सत्य के अन्तिम प्रमाण का आधार आपको कहां मिलता है?

गां. : वह यहां है (अपने हृदय की ओर इशारा करते हुए)। हर धार्मिक ग्रन्थ के बारे में, गीता के बारे में भी, मैं अपना विवेक इस्तेमाल करता हूं। धार्मिक ग्रन्थ के किसी भी वचन को मैं अपने विवेक पर हावी नहीं होने दे सकता। मैं यह तो मानता हूं कि प्रमुख धर्म ग्रन्थ ईश्वर प्रेरित हैं, किन्तु उसके साथ ही मैं यह भी जानता हूं कि वे दो माध्यमों से छनकर आते हैं। पहले तो वे किसी मानव सन्देशवाहक के माध्यम से आते हैं, और फिर व्याख्याकारों की टीकाओं से गुजरते हैं। उनमें कुछ भी ऐसा नहीं होता जो सीधे ईश्वर से आता हो। मैथ्यूज एक ही पाठ का एक रूप और जॉन दूसरा रूप रख सकते हैं। दिव्य ज्ञान में विश्वास रखते हुए भी मैं अपने विवेक को तिलांजलि नहीं दे सकता। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'शब्द मारता है, पर उसका निहितार्थ तारता है'। परन्तु आप मुझे गलत न समझें। मेरी आस्था में ऐसी चीजों में भी विश्वास है जिनमें तर्क के लिए कोई स्थान नहीं, जैसे कि ईश्वर की सत्ता में। कोई भी तर्क मुझे उस आस्था से डिगा नहीं सकता। और उस बच्ची की तरह जो सारे तर्क के प्रतिकूल बार-बार यही कहती रही 'फिर भी हम सात हैं,' मैं किसी बहुत अधिक बुद्धिमान व्यक्ति से तर्क में परास्त होकर भी बार-बार यही कहना चाहूंगा कि 'फिर भी ईश्वर है।'

[अंग्रेजी से]

**हरिजन, 5.12.1936**



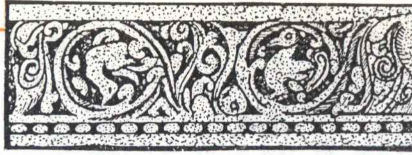
15

## भेंट: एम. सी. राजा को

विशुद्धतम हिन्दू-धर्म की दृष्टि में तो ब्राह्मण, चींटी, हाथी और श्वपच (कुत्ते का मांस खानेवाले) सभी का एक ही दर्जा है और चूंकि हमारा दर्शन इतने उच्च मानसिक धरातल का है और चूंकि हम उस पर अमल करने में असमर्थ रहे हैं, इसलिए वही दर्शन आज हमारे बीच सड़ांध पैदा करने लगा है। हिन्दू-धर्म सारे मानवों के ही नहीं, समस्त जीवों के भाईचारे का आग्रह रखता है। यह एक ऐसी संकल्पना है कि इसे समझने में दिमाग चकराने लगता है, लेकिन हमें उस स्तर तक ऊपर उठना पड़ेगा। मनुष्य और मनुष्य के बीच एक वास्तविक, जीवन्त समानता स्थापित करते ही हम मनुष्य और समस्त ब्रह्माण्ड के बीच समानता स्थापित करने में समर्थ हो जायेंगे। उस दिन के उदय होते ही हमारी धरती पर शान्ति और पारस्परिक मानवीय सद्भावना प्रतिष्ठित हो जायेगी।

---

28.3.1936, पृष्ठ 299-300, खंड-62, गांधी वाङ्मय



16

## भाषण : क्विलोन में

अब जरा इस बात पर विचार करें कि हिन्दू-धर्म का मर्म क्या है, वह कौन-सी चीज है जिससे उन अनेक सन्त-महात्माओं ने प्रेरणा ग्रहण की जिनका इतिहास में उल्लेख हुआ है। क्या कारण है कि इसने संसार को इतने सारे तत्त्वचिन्तक दिये? हिन्दू-धर्म में क्या है कि इसके भक्त सदियों से इस पर न्यौछावर होते आये हैं? क्या इसमें अस्पृश्यता को देख-देखकर भी वे इसपर न्यौछावर होते रहे? अस्पृश्यता विरोधी संघर्ष के दौरान अनेक कार्यकर्त्ताओं ने मुझसे हिन्दू-धर्म का सार-तत्त्व जानना चाहा है। उनका कहना है कि हमारे पास न तो इस्लाम की तरह कोई 'कलमा' है और न जैसे बाइबिल में, 3-16 सेंट जॉन में ईसाई धर्म की केन्द्रीय मान्यता का उल्लेख हुआ है, वैसा कुछ है। वे पूछते हैं, हमारे पास कोई ऐसी चीज है या नहीं जो अत्यन्त चिन्तनशील तथा दुनियादारी में लगे-दोनों तरह के हिन्दुओं को सन्तोष दे सके? कुछ लोगों का कहना है-और अकारण नहीं है-कि गायत्री मन्त्र ऐसा ही है। मैंने 'गायत्री मन्त्र' के अर्थ को समझकर शायद हजारों बार उसका जाप किया है। लेकिन मुझे अब भी लगता है कि वह मन्त्र मेरी पूरी आध्यात्मिक पिपासा को तृप्त नहीं कर पाया। फिर, आप जानते ही हैं कि वर्षों से मैं 'भगवद्गीता' का भक्त हूं और मैंने कहा है कि इससे अपनी सभी समस्याओं का समाधान मुझे मिलता रहा है तथा शंका और कठिनाई के सैकड़ों प्रसंगों पर इसने मेरे लिए कामधेनु का, मार्गदर्शिका और सहायिका का काम किया है। ऐसा कोई

---

30.1.1937, पृष्ठ 287-291, खंड-64, गांधी वाङ्मय

प्रसंग मुझे याद नहीं आता जब इसने मुझे निराश किया हो। लेकिन यह ऐसी पुस्तक नहीं है जिसे मैं यहां उपस्थित सभी श्रोताओं के सामने उनके स्वीकारार्थ रख सकूं। प्रार्थना पूर्ण मन से इसके गहन अध्ययन-मनन के उपरान्त ही आत्मा के लिए इसके पयोधर में संचित परम पौष्टिक दूध हमें प्राप्त हो सकता है।

लेकिन एक मन्त्र ऐसा अवश्य है जिसमें मैंने हिन्दू-धर्म के समस्त सार को समाविष्ट माना है। वही मन्त्र मैं आपको सुनाने जा रहा हूं। मेरा खयाल है, आपमें से बहुत से लोग 'ईशोपनिषद्' के बारे में तो जानते ही होंगे। वर्षों पूर्व इसे मैंने अनुवाद और टीका सहित पढ़ा था। यरवदा जेल में मैंने इसे कंठाग्र कर लिया। लेकिन तब मैं इस पर उस प्रकार मुग्ध नहीं हुआ था जिस प्रकार कि पिछले कुछ महीनों से हो गया हूं। और अब मैं अन्तिम रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यदि सारे उपनिषद् तथा हमारे अन्य सारे धर्मग्रन्थ अचानक नष्ट हो जायें और यदि 'ईशोपनिषद्' का केवल पहला श्लोक हिन्दुओं की स्मृति में कायम रहे तो भी हिन्दू-धर्म सदा जीवित रहेगा।

यह मन्त्र चार हिस्सों में बंटा हुआ है। पहला हिस्सा है "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।" मैं इसका अर्थ इस प्रकार करता हूं: विश्व में हम जो कुछ देखते हैं, सबमें ईश्वर की सत्ता व्याप्त है। फिर दूसरा और तीसरा हिस्सा इस प्रकार है: "तेन त्यक्तेन भुंजीथा:।" इन्हें दो हिस्सों में बांटकर उनका अनुवाद इस तरह करता हूं: इसका त्याग करो और इसका भोग करो। इसका एक दूसरा अनुवाद भी है, यद्यपि उसका भी अर्थ प्राय: वही है। वह दूसरा अनुवाद है: वह तुम्हें जो कुछ दे, उसका भोग करो। इस अनुवाद की दृष्टि से भी इसके दो हिस्से तो किये ही जा सकते हैं। इसके बाद आता है इसका अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा: "मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।" इसका मतलब है किसी की सम्पत्ति को लोभ की दृष्टि से मत देखो। इस प्राचीन उपनिषद् के शेष सभी मन्त्र इस प्रथम मन्त्र के भाष्य हैं या यों कहिए कि उनमें इसी का पूरा अर्थ उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। जब मैं इस मन्त्र को 'गीता' को ध्यान में रखकर या 'गीता' को इस मन्त्र को ध्यान में रखकर पढ़ता हूं तो मुझे लगता है कि 'गीता' भी इसी मन्त्र का भाष्य है। मुझे तो लगता है, यह मन्त्र समाजवादियों और साम्यवादियों, तत्त्वचिन्तकों और अर्थशास्त्रियों सबका समाधान कर देता है। जो लोग हिन्दू-धर्म के अनुयायी नहीं हैं उनसे मैं यह कहने की धृष्टता करता हूं कि यह उन सबका भी समाधान करता है। और अगर

यह बात सही है–मैं तो मानता हूं कि सही है–तो फिर आपको हिन्दू-धर्म की ऐसी किसी चीज को महत्त्व देने की जरूरत नहीं है जो इस मन्त्र के अर्थ से असंगत हो या उसके विरुद्ध हो। कोई साधारण आदमी इससे ज्यादा और क्या जानना चाहेगा कि एक ही ईश्वर और जीवमात्र का एक ही स्रष्टा और नियन्ता विश्व के कण-कण में व्याप्त है।

इस मन्त्र के तीन हिस्से सीधे पहले हिस्से में से फलित होते हैं। यदि आप यह मानते हैं कि ईश्वर अपनी समस्त सृष्टि में व्याप्त है तो आपको यह भी मानना पड़ेगा कि आप ऐसी किसी वस्तु का उपभोग नहीं कर सकते जो उसकी दी हुई नहीं हो। और यह देखते हुए कि वह अपनी असंख्य सन्तानों का स्रष्टा है, यह तो स्पष्ट ही है कि आप किसी की भी सम्पदा को लोभ की दृष्टि से नहीं देख सकते। अगर आप यह समझते हैं कि आप भी उसकी सृष्टि के असंख्य प्राणियों में से एक हैं तो सब कुछ का त्याग करके उसे उसके चरणों पर अर्पित कर देना आपका धर्म हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि त्याग का यह कार्य मात्र स्थूल त्याग नहीं है, बल्कि दूसरे या नये जन्म का प्रतीक है। यह कोई अज्ञानजनित नहीं, बल्कि विचारपूर्वक किया हुआ कार्य होता है। इसलिएं यह एक नवजन्म हीं होता है। चूंकि देहधारी को भोजन, पानी और वस्त्र चाहिए ही, इसलिए उसे जिस किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, वह ईश्वर से ही मांगता है। और यह सब उसे अपने त्याग के स्वाभाविक पुरस्कार-स्वरूप प्राप्त हो जाता है। मानो इतना पर्याप्त न हो, इसलिए इस मन्त्र के अन्त में एक भव्य विचार रखा गया है: किसी की संपदा को लोभ की दृष्टि से न देखो। इस शिक्षा को अपने जीवन में उतारंते ही आप संसार के सभी प्राणियों के साथ शान्ति और सौहार्द के साथ रहनेवाले समझदार विश्व नागरिक बन जाते हैं। यह मनुष्य की इहलोक और परलोक की ऊंची से ऊंची आकांक्षाओं को तृप्त करता है।



# 17

## भाषण : हरिपाद में

पिछली रात क्विलोन की सभा में मैंने हिन्दू-धर्म के सन्देश की चर्चा की थी। इस सभा में भी मैं आपको उसी के सम्बन्ध में कुछ बताने में आपके चन्द मिनट लेना चाहूंगा। उस सभा में मैंने यह कहने की धृष्टता की थी कि 'ईशोपनिषद्' के प्रथम मन्त्र में सम्पूर्ण हिन्दू-धर्म का सार निहित है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।

थोड़ी-सी संस्कृत जाननेवाले लोग भी देखेंगे कि इसमें अन्य वैदिक मन्त्रों की तरह कुछ भी दुर्बोध नहीं है और इसका सीधा-सादा अर्थ सिर्फ इतना ही है : विश्व में छोटा-बड़ा जो-कुछ भी है उस सबमें, यहां तक कि छोटे से छोटे अणु में भी, ईश्वर की सत्ता व्याप्त है-ईश्वर की, जिसे हम स्रष्टा या प्रभु के रूप में जानते हैं। ईश का मतलब है शास्ता और जो स्रष्टा है वह स्वभावत: शास्ता तो बन ही जाता है। और इस श्लोक के रचयिता ऋषि ने ईश्वर के लिए शास्ता के अतिरिक्त और किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया है, और उसने वास्तव में किसी भी वस्तु को उसके शासन की परिधि से बाहर नहीं रहने दिया है। उसका कहना है कि हम जो कुछ भी देखते हैं, सबमें ईश्वर व्याप्त है; और इस अवधारणा से स्वभावत: इस मन्त्र के शेष भाग फलित होते हैं। उनमें वह कहता है, सब कुछ का त्याग करो, अर्थात् केवल इस छोटे से भूतल पर जो कुछ है उसी का नहीं, बल्कि अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है उस सबका

---

30.1.1937, पृष्ठ 294-297, खंड-64, गांधी वाड्मय

त्याग करो। वह हमसे सबका त्याग करने को इसलिए कहता है कि हम लोग वास्तव में ऐसे तुच्छ परमाणुओं के समान हैं कि यदि हम किसी वस्तु को स्वायत्त करने की बात सोचते हैं तो वह हास्यास्पद ही होगा। इसके बाद ऋषि कहता है, इस त्याग का पुरस्कार है ''भुंजीथा:'', अर्थात् तुम्हें जिस वस्तु की भी आवश्यकता हो उसका उपभोग करो। लेकिन ''भुंजीथा:'' शब्द का एक विशेष अर्थ भी है, हालांकि वैसे आप इसका अर्थ 'उपयोग', 'खाना' आदि भी लगा सकते हैं, उसका विशेष अर्थ यह है कि जितना आपके विकास के लिए आवश्यक हो उससे अधिक कुछ न लें। इसलिए इस उपभोग या उपयोग पर दो मर्यादाएं लगी हुई हैं। एक तो है त्याग या 'भागवत' के शब्दों में कहें तो ''कृष्णार्पणमस्तु सर्वम्''। भागवत धर्म के प्रत्येक अनुयायी को प्रतिदिन प्रात:काल अपने समस्त विचार, शब्द तथा कर्म [मनसा, वाचा, कर्मणा] ईश्वर को अर्पित करने का आदेश है और किसी भी दिन जब तक उसने यह त्याग या अर्पण का कार्य सम्पन्न न कर लिया हो, तब तक उसे किसी भी वस्तु का स्पर्श करने, यहां तक कि थोड़ा-सा पानी भी पीने का अधिकार नहीं है। और जब उसने त्याग और अर्पण का यह कार्य सम्पन्न कर दिया हो तो उसके पुरस्कार स्वरूप उसे उस हद तक भोजन, जल, वस्त्र और आवास के उपभोग का अधिकार प्राप्त हो जाता है जिस हद तक ये चीजें उसके दैनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। इसलिए आप इसका अर्थ चाहे यह लगायें कि उपभोग अथवा उपयोग त्याग का पुरस्कार है या यह लगायें कि त्याग उपभोग की शर्त है, इस तथ्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि त्याग स्वयं हमारे अस्तित्व के लिए, हमारी आत्मा के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। और मानो इस मन्त्र में बताई गई यह शर्त पर्याप्त न हो, ऋषि इसके तुरन्त बाद कहता है, ''किसी की सम्पदा को लोभ की दृष्टि से मत देखो।'' मैं तो आपसे यह कहूंगा कि संसार के सभी दर्शन या धर्म इस मन्त्र में निहित हैं, और जो कुछ धर्मविरुद्ध है उस सबका इसमें वर्जन किया गया है। धर्मग्रन्थों की व्याख्या के नियमों के अनुसार, जो कुछ श्रुति के विरुद्ध है—और 'ईशोपनिषद्' एक श्रुति ही है—वह सब सर्वथा त्याज्य है।

अब मैं इस मन्त्र को ध्यान में रखकर इस बात पर विचार करना चाहूंगा कि राज्य के द्वारा की गई घोषणा के सन्दर्भ में खुद हमारी क्या अवस्था है। कारण, ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, उस सब में यदि ईश्वर व्याप्त है, अर्थात्

यदि ब्राह्मण और भंगी, पण्डित और मेहतर, इलवा और परया आदि सभी जातियों के लोगों में वह व्याप्त है तो इस मन्त्र की दृष्टि से न कोई ऊंच है और न नीच, बल्कि सभी समान हैं, क्योंकि सब एक ही स्रष्टा की सृष्टि हैं। और यह धर्म या दर्शन का कोई ऐसा निगूढ़ तत्त्व नहीं है जिसका पात्र केवल ब्राह्मणों या क्षत्रियों को ही माना जाये, बल्कि इसके द्वारा तो एक सनातन सत्य उद्घाटित हुआ है जिसमें कोई कमी करने या जिसको किसी भी तरह से मर्यादित करने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। इसलिए स्वयं महाराजा या महारानी भी त्रावणकोर के किसी भी व्यक्ति से जौ-भर भी ऊंचे नहीं हैं। हम सब ईश्वर की सन्तान, उसी के सेवक हैं। यदि महाराजा साहब सभी समान लोगों के बीच सर्वप्रथम हैं-और वे वास्तव में सर्वप्रथम हैं भी-तो वे अपने राजत्व के कारण नहीं, बल्कि सबसे बड़े सेवक होने के कारण हैं। इसलिए यह बात कितनी उत्कृष्ट, कितनी शोभनीय है कि त्रावणकोर का प्रत्येक महाराजा 'पद्मनाभदास' कहलाता है। यह एक गौरवपूर्ण उपाधि है और जिन्होंने त्रावणकोर के महाराजा को यह उपाधि दी उन्हें मैं बधाई देता हूं। इसलिए जब मैंने यह कहा कि महाराजा या महारानी हममें से किसी से जौ-भर भी ऊंचे नहीं हैं तो वास्तव में स्वयं महाराजा और महारानी द्वारा स्वीकृत सत्य को ही आपके सामने रखा। और अगर यह बात सही है तो कोई भी अपने को किसी अन्य व्यक्ति से श्रेष्ठ मानने की धृष्टता कैसे कर सकता है? इसलिए मैं आपसे कहूंगा कि अगर यह मन्त्र ठीक है और इसके बावजूद कोई ऐसा मानता है कि अवर्ण कहे जानेवालों के प्रवेश से मन्दिर अपवित्र होता है, तो ऐसे व्यक्ति को मैं गम्भीर पाप का अपराधी घोषित करता हूं। आपसे सच कहता हूं, इस घोषणा ने मन्दिरों को पवित्र बनाया है, उन पर लगे दाग को धो दिया है।

मैं चाहूंगा कि इस मन्त्र को सभी स्त्री, पुरुष और बच्चे अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करें और यदि इसमें-जैसी कि मेरी मान्यता है-हिन्दू-धर्म का सार समाहित है तो इस मन्त्र को सभी मन्दिरों के मुख्य द्वार पर खुदवा देना चाहिए। तब क्या आप यह नहीं समझते कि यदि हम उन मन्दिरों में किसी के भी प्रवेश को वर्जित करेंगे तो यह पग-पग पर इस मन्त्र को झुठलाना होगा। इसलिए यदि आप अपने-आप को इस उदारतापूर्ण घोषणा का योग्य पात्र सिद्ध करना चाहते हैं और अगर आप स्वयं अपने प्रति ईमानदार तथा अपने भाग्य निर्माताओं के प्रति वफादार रहना चाहते हैं तो आप इस घोषणा को शब्दश: भी और भावना

से भी कार्यान्वित करके दिखायें। मैं तो इसे ऐसा महान् आध्यात्मिक कदम मानता हूं कि इससे नास्तिकों के हृदय से नास्तिकता दूर हो जानी चाहिए, हिन्दू-धर्म या धर्म-मात्र के सत्य को शंका की दृष्टि से देखनेवालों की सभी शंकाएं मिट जानी चाहिए। यदि इसे ठीक-ठीक समझा जाये तो इससे तथाकथित नास्तिकों की अज्ञानजनित नास्तिकता दूर हो जानी चाहिए। इस घोषणा की तिथि से त्रावणकोर के मन्दिर, जिनके बारे में मैंने कहा था कि वे ईश्वर के धाम नहीं हैं, वास्तव में ईश्वर के धाम हो गये हैं, क्योंकि जो लोग अस्पृश्य माने जाते थे उनमें से किसी के लिए भी इनमें प्रवेश अब वर्जित नहीं रहा है। इसलिए मैं यह आशा करता हूं और प्रभु से मेरी यही प्रार्थना है कि त्रावणकोर में ऐसा कोई भी पुरुष या स्त्री देखने को न मिले जो केवल इस कारण मन्दिरों में न जाये कि उनके द्वार समाज-बहिष्कृत माने जानेवाले लोगों के लिए खोल दिये गये हैं।

[अंग्रेजी से]

**हरिजन,** 30.1.1937



18

## भाषण : सार्वजनिक सभा, कोट्टयम् में

मैं हिन्दू-धर्म का सार समझता हूं उसे समझाने का प्रयत्न किया है, और इस सिलसिले में मैंने उनके सामने 'ईशोपनिषद्' का एक अत्यन्त सीधा-सादा मन्त्र रखा है। आप यह तो जानते ही होंगे कि जो उपनिषद् वेदों के समान ही पवित्र माने जाते हैं, 'ईशोपनिषद्' उन्हीं में से एक है। 'ईशोपनिषद्' के पहले ही मन्त्र का अर्थ यह है : इस विश्व के कण-कण में ईश्वर व्याप्त है। इस मन्त्र में ईश्वर को स्रष्टा, ईश और विश्व का अधिष्ठाता कहा गया है। इस मन्त्र के दृष्टा ऋषि को केवल इतना ही कहकर सन्तोष नहीं हुआ कि विश्व के कण-कण में ईश्वर व्याप्त है। अत: उसने आगे चलकर यह कहा: "ईश्वर सर्वव्यापी है, इसलिए यहां की किसी भी वस्तु पर-यहां तक कि अपने शरीर पर भी-तुम्हारा स्वामित्व नहीं है। तुम्हारे पास जो कुछ है, ईश्वर उस सबका निर्विवाद स्वामी है"। इसलिए अपने को हिन्दू कहनेवाले को द्विजत्व, या ईसाइयों के शब्दों में कहूं तो 'नवजन्म', प्राप्त करने के लिए उन सारी वस्तुओं को ईश्वरार्पित या उनका त्याग कर देना पड़ता है जिन्हें वह अज्ञानवश अपनी सम्पत्ति कहता आया है। ईश्वरार्पण या त्याग करने के बाद उससे कहा जाता है कि इसके पुरस्कार स्वरूप ईश्वर अन्न, वस्त्र, आश्रय आदि के सम्बन्ध में उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति का पूरा-पूरा ध्यान रखेगा। इसलिए जीवन की आवश्यक वस्तुओं को भोगने या उनका उपयोग करने के लिए शर्त यह है कि उन्हें ईश्वरार्पित कर दिया जाये या उनका त्याग कर दिया जाये। और यह अर्पण या त्याग रोज करना

---

30.1.1937, पृष्ठ 322-324, खंड-64, गांधी वाङ्मय

चाहिए, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि इस माया-मोहवाले संसार में हम जीवन की यह सबसे मुख्य बात भूल जायें। यह सब कह चुकने के बाद मन्त्र दृष्टा ऋषि कहता है: "किसी के धन को लोभ की दृष्टि से न देखो।" मैं आपसे कहना चाहता हूं कि इस छोटे से मन्त्र में भी जो सत्य समाया हुआ है, वह प्रत्येक मनुष्य की इहलौकिक और पारलौकिक दोनों तरह की ऊंची से ऊंची आकांक्षाओं को तृप्त कर सकता है। संसार के धर्मग्रन्थों में सत्य की खोज करते हुए मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिली, जिसे इस मन्त्र में जोड़ने की जरूरत हो। धर्मग्रन्थों का जो थोड़ा बहुत अध्ययन मैंने किया है-और मैं मानता हूं कि मेरा यह अध्ययन बहुत सीमित है-उसपर दृष्टि डालते हुए मुझे लगता है कि सभी धर्मग्रन्थों में जो कुछ अच्छा है, उसका इस मन्त्र से ही उद्‌भव हुआ है। यदि विश्वबन्धुत्व-केवल विश्व-भर के मानव का नहीं, बल्कि जीव-मात्र का बन्धुत्व-देखना हो तो वह मुझे इस मन्त्र में मिल जाता है। यदि प्रभु और जगन्नियन्ता में-या हम उसे जो भी नाम दें-अविचल श्रद्धा चाहिए, तो वह मुझे इस मन्त्र में मिलती है। ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण और अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसी पर निर्भर रहने की कल्पना के दर्शन करने हों, तो मैं फिर कहता हूं कि मुझे इस मन्त्र में उसके दर्शन भी हो जाते हैं। चूंकि ईश्वर हमारे और आपके, सबके रोम-रोम में, कण-कण में, हरेक श्वास-उच्छ्वास में व्याप्त है, अत: इससे मैं जगत् के सर्व जीवों की समानता का सिद्धान्त निकालता हूं, और इससे उन सभी लोगों की आकांक्षाओं की भी तृप्ति होनी चाहिए जो चिन्तन के स्तर पर समतावादी हैं। यह मन्त्र मुझे बताता है कि जो चीज ईश्वर की है उसे मैं अपनी मानकर अपने पास नहीं रख सकता, और यदि मेरा जीवन और इस मन्त्र पर आस्था रखनेवाले सभी लोगों का जीवन सम्पूर्णत: ईश्वरार्पित होना है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि वह जीवन जीव-मात्र की सतत सेवा का जीवन होना चाहिए।

यह है मेरी श्रद्धा और मैं कहता हूं कि यही अपने को हिन्दू कहनेवाले सभी लोगों की श्रद्धा होनी चाहिए। मैं अपने ईसाई और मुसलमान भाइयों से भी यह कहने की धृष्टता करता हूं कि यदि वे अपने-अपने धर्मग्रन्थों को उलटकर देखेंगे तो उनमें उन्हें इससे अधिक कुछ नहीं मिलेगा। मैं चाहता हूं कि त्रावणकोर के हिन्दुओं को इस मन्त्र में निहित उच्चादर्श को साकार करने में संसार के सभी लोग, चाहे वे मुसलमान हों या ईसाई अथवा और कुछ,

सहायता करें। मैं आपसे यह बात छिपाना नहीं चाहता कि हिन्दू-धर्म के नाम पर चलनेवाले अनेकानेक अन्धविश्वासों से मैं अनभिज्ञ नहीं हूं। हिन्दू-धर्म के नाम पर चलनेवाले उन तमाम अन्धविश्वासों से मैं अवगत हूं और मुझे इसका बड़ा दुःख है। चोर को चोर कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है। अस्पृश्यता को सबसे बड़ा अन्धविश्वास बताने में मैंने कभी कोई हिचक नहीं दिखाई। लेकिन उन तमाम अन्धविश्वासों के बावजूद, मैं हिन्दू ही बना हुआ हूं। कारण, मैं नहीं मानता कि ये अन्धविश्वास हिन्दू-धर्म के अंग हैं। हिन्दू-धर्म में धर्मग्रन्थों के वचनों की व्याख्या के जो नियम बताये गये हैं, उन्हीं से मैंने यह सीखा है कि जो कुछ भी उस सत्य से, जिसका प्रतिपादन अभी मैंने किया है और जो उक्त मन्त्र में निहित है, असंगत है उसे मैं निस्संकोच ऐसा मानकर त्याग दूं कि वह हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है।

मात्र की पूंजी सेवार्थ है। और यह होने पर सारे जीवन में भोग का खात्मा हो जाता है, जीवन त्यागमय हो जाता है। मनुष्य त्याग करके ही भोग करता है। पशु और मनुष्य के जीवन में यह भेद है। जीवन का यह अर्थ जीवन को शुष्क बना देता है, इससे कला का नाश हो जाता है, गृहस्थ जीवन का नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप लगाकर उक्त विचार को सदोष समझते हैं। पर मेरे खयाल में ऐसा कहना त्याग का अनर्थ करना है। त्याग के मानी संसार से भाग कर जंगल में जा बसना नहीं है, बल्कि जीवन की प्रवृत्ति मात्र में त्याग का संचार करना है। एक गृहस्थ का जीवन त्यागमय और भोगमय दोनों हो सकता है। मोची का जूते सीना, किसान का खेती करना, व्यापारी का व्यापार करना और नाई का हजामत बनाना त्याग-भावना से हो सकता है या उसमें भोग की लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है, वह करोड़ों के व्यापार में भी लोक-सेवा का ही खयाल रखेगा, किसी को धोखा नहीं देगा, सट्टेबाजी की जोखिम नहीं उठायेगा, करोड़ों की सम्पत्ति रखते हुए भी सादगी से रहेगा, करोड़ों कमाते हुए भी किसी की हानि नहीं करेगा। किसी को हानि पहुंचाने के बजाय स्वयं करोड़ों की हानि उठा लेगा। कोई इस खयाल से न हंसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पना में ही बसता है। संसार के सौभाग्य से ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनों में हैं। हों चाहे अंगुलियों पर ही गिनने-भर को, पर एक भी जीवित उदाहरण रहने पर उसे फिर कल्पना की वस्तु नहीं कह सकते। ऐसे एक लोकोपकारी दर्जी को आपने बढ़वाण में देखा ही है। ऐसे एक नाई को मैं जानता हूं और ऐसे ही एक बुनकर को हम लोगों में से कौन नहीं जानता। देखने ढूंढने पर हम सब धन्धों में केवल यज्ञार्थ अपना धन्धा करने और तदर्थ जीवन बितानेवाले आदमी पा सकते हैं। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धन्धे से अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। पर वे अपना धन्धा आजीविका के निमित्त नहीं करते, आजीविका उनके लिए उस धन्धे का गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जी का धन्धा करता था और ज्ञान होने के बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जाने से उसका धन्धा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गई और पेशे में दूसरे के सुख का विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवन में कला का प्रवेश हो गया।

यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा हैं, सच्चा रस उसी में है, क्योंकि उसमें से रस के नित्य नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है,

न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है, जो अखरे वह त्याग नहीं है। भोग का अन्त नाश है, त्याग का अन्त अमरता। रस स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, रस तो हमारी वृत्ति में मौजूद है। एक को नाटक के पर्दों में मजा आता है, अन्य को आकाश में नित्य नये-नये प्रकट होनेवाले दृश्यों में। रस परिशीलन का विषय है। जो चीज रस के रूप में बचपन से सिखाई जाती है, जिसे रस के नाम से जनता में प्रवेश कराया जाता है, वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते हैं जिनमें किसी जाति को रसमय लगनेवाली चीज दूसरी जाति को रसहीन लगती है।

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से सेवा करते हैं, अतः लोगों से आवश्यकता-भर को, और अनावश्यक भी, लेने का हमें परवाना मिल गया है। जहां किसी सेवक के मन में यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई, सरदारी आई। सेवा में अपनी सुविधा के विचार की गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवक की सुविधा स्वामी अर्थात् ईश्वर देखनेवाला है; देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाये उस सबको ही न अपना बैठे। आवश्यकता भर ही ले, बाकी का त्याग करे। अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शान्त रहे, रोष न करे, मन में भी खिन्नता न लाये। याज्ञिक का पुरस्कार, सेवक की मजदूरी, यज्ञ-सेवा ही है। उसी में उसका सन्तोष है।

सेवा कार्य में बेगार भी नहीं काटी जाती। उसे अन्त के लिए नहीं छोड़ा जाता। अपना काम तो संवारे; लेकिन पराया काम बिना पैसे के करना है, इस खयाल से जैसा तैसा या जब चाहे तब करने में भी हर्ज न समझनेवाला यज्ञ का ककहरा भी नहीं जानता। सेवा में तो सोलहों श्रृंगार करने पड़ते हैं, अपनी सारी कला उसमें खर्च कर देनी पड़ती है। पहले यह, फिर अपनी सेवा। मतलब यह है कि शुद्ध यज्ञ करनेवाले के लिए अपना कुछ नहीं है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।



20

## हिन्दू-धर्म ने हमारे लिए क्या किया है?

आज हम जो देखते हैं वह शुद्ध हिन्दू-धर्म नहीं है बल्कि अक्सर वह उसकी विद्रूपिका है। अन्यथा मुझे उसके पक्ष में बोलने की जरूरत नहीं होती, वह स्वयं बोलता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार यदि मैं पूर्णत: शुद्ध होता तो मुझे आपसे बोलने की जरूरत नहीं पड़ती। ईश्वर अपनी जिह्वा से नहीं बोलता और जिस हद तक मनुष्य ईश्वर के निकट आता जाता है उसी हद तक ईश्वर बन जाता है। हिन्दू-धर्म मुझे सिखाता है कि मेरा शरीर तो अन्दर बसनेवाली आत्मा की शक्ति पर एक सीमा के समान है।

जिस प्रकार पश्चिम के देशों में लोगों ने भौतिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक खोजें की हैं उसी प्रकार हिन्दू-धर्म ने धर्म, अध्यात्म और आत्मा के क्षेत्र में और भी अधिक आश्चर्यजनक खोजें की हैं। लेकिन हमारे पास इन महान और सुन्दर खोजों को देखने के लिए आंखें ही नहीं हैं। पश्चिमी विज्ञान ने जो प्रगति की है उससे हम चकाचौंध हो गये हैं। वास्तव में लगभग ऐसा लगता है कि ईश्वर ने बुद्धिपूर्वक भारत को इस दिशा में प्रगति करने से रोक दिया है ताकि वह भौतिकवाद के ज्वार का प्रतिरोध करने का अपना विशेष दायित्व निभा सके। आखिरकार हिन्दू-धर्म में कुछ ऐसा है जिसने उसे अब तक जीवित रखा है। इसने बैबिलोनिया, सीरिया, फारस और मिस्र की सभ्यताओं का पतन होते देखा है। अपने चारों ओर एक नजर डालिए। कहां है रोम और कहां है यूनान?

---

24.11.1927, पृष्ठ 544-545 खंड-35, गांधी वाङ्मय

क्या आज आप गिबन द्वारा वर्णित इटली को–या प्राचीन रोम कहें, क्योंकि रोम ही इटली था–कहीं देख सकते हैं? यूनान जाइए। विश्व-विख्यात् ऐटिक सभ्यता कहां है? फिर भारत में आइए, यहां के प्राचीनतम लेख-आलेखों को देखिए और फिर अपने चारों ओर देखिए। आप विवश होकर कहेंगे, 'हां, मैं यहां प्राचीन भारत को अभी भी जीवित देखता हूं।' यह सही है कि यहां-वहां गोबर के ढेर भी हैं, लेकिन उनके नीचे बहुमूल्य खजाने दबे पड़े हैं। और उसके जीवित रहने का कारण यही है कि हिन्दू-धर्म ने अपने सामने जो उद्देश्य रखा था वह भौतिक दिशा में नहीं बल्कि आध्यात्मिक दिशा में विकास करने का था।

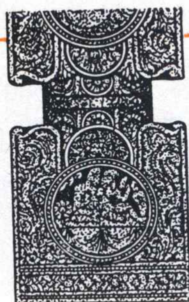
हिन्दू-धर्म की अनेक देनों में से एक अनोखी देन है मूक प्राणियों के साथ मनुष्य के तादात्म्य का विचार। मेरी दृष्टि में गो-पूजा एक महान विचार है जिसका और विस्तार किया जा सकता है। आधुनिक धर्म-परिवर्तन करने की प्रवृत्ति से उसका मुक्त रहना भी मेरी दृष्टि में एक बहुमूल्य चीज है। इसको प्रचार की कोई आवश्यकता नहीं हैं। यह कहता है, 'जीवन को जियो।' अब यह मेरा काम है, आपका काम है कि हम जीवन को जियें और फिर उसका प्रभाव आनेवाले युगों पर छोड़ जायें। अब उसने जो विभूतियां प्रदान की हैं उन्हें लीजिए; अपेक्षाकृत ज्यादा आधुनिक नामों को छोड़ भी दें तो रामानुज हैं, चैतन्य हैं, रामकृष्ण हैं जिन्होंने हिन्दू-धर्म पर अपनी छाप छोड़ी है। हिन्दू-धर्म किसी भी हालत में एक मृतप्राय शक्ति या मृत धर्म नहीं है।

फिर आश्रमों के रूप में उसका योगदान है, जो एक अनोखा योगदान है। इसके समान चीज सारे संसार में नहीं है। कैथॉलिक ईसाइयों में विवाह न करनेवाले लोगों का एक समुदाय है जो अपने यहां के ब्रह्मचारियों जैसा है, लेकिन जो एक संस्था नहीं है, जबकि भारत में प्रत्येक बालक को प्रथम आश्रम से गुजरना पड़ता है। क्या ही शानदार यह कल्पना थी! आज हमारी आंखें मैली हैं, विचार और भी मैले हैं और शरीर सबसे ज्यादा मैले हैं, क्योंकि हम हिन्दू-धर्म को नकार रहे हैं।

एक और भी चीज है जिसका मैंने उल्लेख नहीं किया है। मैक्समूलर ने चालीस वर्ष पहले कहा था कि यूरोपवाले धीरे-धीरे अब यह समझ रहे हैं कि पुनर्जन्म की बात कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि एक तथ्य है। तो, यह विचार पूरी

तरह हिन्दू-धर्म की ही देन है।

आज वर्णाश्रम-धर्म और हिन्दू-धर्म को उसके माननेवाले ही गलत रूप में पेश कर रहे हैं और उसे नकार रहे हैं। इसका उपाय नष्ट करना नहीं है, सुधार करना है। हम अपने अन्दर सच्ची हिन्दू भावना पैदा करें और फिर पूछें कि वह आत्मा को संतुष्ट करती है या नहीं।



21

## कांग्रेस और ईश्वर

मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का मूल है; और फिर भी वह इन सबसे परे है। ईश्वर अन्तरात्मा ही है। वह तो नास्तिकों की नास्तिकता भी है। क्योंकि वह अपने अमर्यादित प्रेम से उन्हें भी जिन्दा रहने देता है। वह हृदय को देखनेवाला है। वह बुद्धि और वाणी से परे है। हम स्वयं जितना अपने को जानते हैं, उससे कहीं अधिक वह हमें और हमारे दिलों को जानता है। जैसा हम कहते हैं, वैसा ही वह हमें नहीं मानता। क्योंकि वह जानता है कि जो हम जबान से कहते हैं अक्सर वही हमारा भाव नहीं होता; और कुछ लोग ऐसा जान-बूझकर करते हैं तो कुछ अनजाने ही। ईश्वर उन लोगों के लिए एक व्यक्ति ही है जो उसे व्यक्ति-रूप में हाजिर देखना चाहते हैं। जो उसका स्पर्श करना चाहते हैं, उनके लिए वह साकार है। वह पवित्र से पवित्र तत्त्व है। जिन्हें उसमें श्रद्धा है उन्हीं के लिए उसका अस्तित्व है। विभिन्न लोगों के लिए उसके विभिन्न रूप हैं। वह हममें व्याप्त है और फिर भी हमसे परे है। ''ईश्वर'' शब्द कांग्रेस से निकाल दिया जा सकता है, लेकिन खुद ईश्वर को तो कोई कहीं से नहीं निकाल सकता। ईश्वर के नाम पर की गई प्रतिज्ञा और केवल प्रतिज्ञा यदि एक वस्तु नहीं है तो फिर प्रतिज्ञा होगी क्या चीज? अन्तरात्मा तो निश्चय ही ईश्वर शब्द का एक बड़ा ही अपर्याप्त और जबरदस्ती बनाया हुआ पर्याय है। उसके नाम पर भयंकर अनीतियुक्त काम किये गये हैं और अमानुष अत्याचार भी हुए हैं,

---

5.3.1925, पृष्ठ 218-219, खंड-26, गांधी वाङ्मय

लेकिन इससे उसका अस्तित्व नहीं मिट सकता। वह बड़ा सहनशील है, वह बड़ा धैर्यवान् है; लेकिन वह रुद्र भी है। उसका व्यक्तित्व इस दुनिया में और भविष्य की दुनिया में भी सबसे अधिक काम करानेवाली ताकत है। जैसा हम अपने पड़ोसी—मनुष्य और पशु—दोनों के साथ बरताव करते हैं वैसा ही बरताव वह हमारे साथ भी करता है। उसके सामने अज्ञान की दलील नहीं चल सकती। लेकिन यह सब होने पर भी वह बड़ा रहमदिल है, क्योंकि वह हमें पश्चात्ताप करने के लिए मौका देता है। दुनिया में सबसे बड़ा प्रजातन्त्रवादी वही है; क्योंकि वह बुरे-भले को पसन्द करने के लिए हमें स्वतन्त्र छोड़ देता है। वह सबसे बड़ा जालिम है, क्योंकि वह अक्सर हमारे मुंह तक आये हुए कौर को छीन लेता है और इच्छा-स्वातन्त्र्य की ओट में छूट लेने की बहुत ही कम गुंजाइश देता है और हमारी लाचारी पर हंसता है। यह सब हिन्दू-धर्म के अनुसार उसकी लीला है, उसकी माया है। हम कुछ नहीं हैं सिर्फ वही है और अगर हम हों तो हमें सदा उसके गुणों का गान करना चाहिए और उसकी इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। आइए, उसकी बंसी की धुन पर हम नाचें। सब अच्छा ही होगा।



22

## तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न

एक सज्जन ने बड़े ही विनम्र भाव से तीन प्रश्न हिन्दी में पूछे हैं।

(1) वर्णभेद आप जन्मजात मानते हैं। किन्तु यह भी आपकी मान्यता है कि किसी आदमी को कोई भी कर्म करने में हर्ज नहीं तथा किसी भी आदमी में ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्यादि द्विजों के गुण आ सकते हैं। ऐसी हालत में वर्ण की पदवी की क्या जरूरत है? सिर्फ जन्म से नाम का आरोपण क्यों? जन्म को इतना महत्त्व क्यों?

(2) आप अद्वैतवाद मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सृष्टि अनादि, अनन्त तथा सत्य है। अद्वैतवाद सृष्टि के अस्तित्व से इनकार करता है। आप द्वैतवादी भी नहीं, क्योंकि आप जीवात्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व पर श्रद्धा रखते हैं। इसलिए आपको अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहना ठीक क्यों नहीं है?

(3) आपने कई बार लिखा है कि ईश्वर के मायने देहरहित, वीतरागी, स्वतन्त्र और उपाधिरहित शुद्धात्मा है; अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि नहीं पैदा की और वह पाप-पुण्य का निर्णय करने भी नहीं बैठता। तो भी आप ईश्वरेच्छा की बात बार-बार करते ही रहते हैं। उपाधिरहित ईश्वर को इच्छा कैसे हो सकती है और उसकी इच्छा के अधीन आप कैसे हो सकते

21.1.1926, पृष्ठ 401-403, खंड-29, गांधी वाङ्मय

**हैं? आपकी आत्मा जो कुछ करना चाहती है, कर सकती है। यदि आत्मा ऐसा नहीं कर पाती तो उसका पूर्वसंचित कर्म ही इसका कारण है, न कि ईश्वर। आप सत्याग्रही होने के कारण सिर्फ मूढ़ात्माओं को समझाने के लिए यह असत्य बात तो नहीं कहते होंगे। फिर यह ईश्वरेच्छा का दैववाद क्यों?**

(1) मेरा वर्णभेद का मानना सृष्टि के नियमों का समर्थन करना है। हम अपने माता-पिता के कुछ गुणदोष जन्म से ही विरासत में प्राप्त करते हैं। मनुष्य योनि में मनुष्य ही पैदा होते हैं, इसे जन्मानुसार वर्ण का ही सूचक समझिए। हम जन्मतः प्राप्त गुण-दोषों में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर सकते हैं; इस दृष्टि से कर्म को भी स्थान है। एक ही जन्म में पूर्वजन्म में अर्जित संस्कारों को सर्वथा मिटा देना शक्य नहीं है। इस अनुभव को देखते हुए तो जो जन्म से ब्राह्मण है उसे ब्राह्मण मानने में ही सब प्रकार से लाभ है। विपरीत कर्म करने से ब्राह्मण इसी जन्म में शूद्र बन जाये और संसार उसे फिर भी ब्राह्मण मानता जाये तो इससे संसार की कोई हानि नहीं। यह सच है कि आज वर्ण व्यवस्था का अर्थ उलटा हो रहा है और इसीलिए यह भी सच है कि वह छिन्न-भिन्न हो गई है। फिर भी मैं जिस नियम की सत्यता पद-पद पर सिद्ध होती देखता हूं उससे कैसे इनकार कर सकता हूं? मैं यह मानता हूं कि यदि मैं उससे इनकार करूं तो बहुत सी मुश्किलों से बच सकता हूं। लेकिन यह तो दुर्बुद्धि का मार्ग है। मैंने तो यह स्पष्ट पुकार कर कहा है कि मैं वर्णों को स्वीकार करने में ऊंच-नीच के भाव को स्वीकार नहीं करता। जो सच्चा ब्राह्मण है वह सेवक का भी सेवक बनकर रहता है। ब्राह्मण में भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण अवश्य ही रहते हैं। केवल उसमें ब्राह्मण के गुण, दूसरों के गुणों की अपेक्षा अधिक होने चाहिए। लेकिन आज तो वर्ण भी कुम्हार के चाक पर चढ़े हैं और उसमें से गोल बनेगा या गागर, इसे तो विधाता ही जान सकता है या फिर ब्राह्मण।

(2) यह सच है कि मैं अपने को अद्वैतवादी मानता हूं, लेकिन द्वैतवाद का समर्थन भी मैं कर सकता हूं। संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है इसीलिए सृष्टि असत्य-अस्तित्व रहित-कही जाती है। लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है, जिसे उसका अपना स्वरूप कह सकते हैं। उस रूप में उसकी सत्ता है, यह भी हम देख सकते हैं; इसलिए वह सत्य भी है। इस कारण उसे सत्यासत्य कहें तो भी मुझे कुछ आपत्ति नहीं। मुझे यदि इसी कारण

अनेकान्तवादी या स्याद्‌वादी माना जाये तो इसमें भी कोई आपत्ति की बात नहीं है। मैं स्याद्‌वाद को जैसा जानता हूं, वैसा मानता हूं। उसका जो रूप पण्डित मानते हैं शायद वैसा नहीं है। वे मुझसे वादविवाद करें तो मैं हार जाऊंगा। मैंने अपने अनुभव से यह देखा है कि मैं अपनी दृष्टि से हमेशा ठीक होता हूं और प्रामाणिक टीकाकारों की दृष्टि से मेरी बहुत-सी बातों में त्रुटि होती है। किन्तु मैं यह जानता हूं कि अपनी-अपनी दृष्टि से हम दोनों ही ठीक हैं। और इस प्रतीति के कारण मैं किसी को भी सहसा झूठा और कपटी नहीं मान सकता। सात अन्धों ने हाथी का सात प्रकार से वर्णन किया था और वे सब अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक थे, आपस में एक दूसरे की दृष्टि से भूल में थे और ज्ञानी की दृष्टि में सच्चे भी थे और गलत भी। मुझे यह अनेकान्तवाद बहुत प्रिय है। उससे ही मैं मुसलमान की दृष्टि से मुसलमान की और ईसाई की दृष्टि से ईसाई की परीक्षा करना सीखा हूं। मेरे विचारों को जब कोई गलत समझता था तो पहले मुझे उसपर बड़ा क्रोध आता था; लेकिन अब मैं उसके विचार पर उसकी दृष्टि से भी विचार कर पाता हूं; इसलिए मैं उससे भी प्रेम कर सकता हूं, क्योंकि मैं संसार के प्रेम का भूखा हूं। अनेकान्तवाद के मूल में अहिंसा और सत्य दोनों हैं।

(3) मैं ईश्वर को जिस रूप में मानता हूं उसी रूप में उसका वर्णन करता हूं। मैं लोगों को भ्रम में डालकर अपना अध:पतन क्यों करूं? मुझे उनसे कौन-सा इनाम लेना है? मैं तो ईश्वर को कर्त्ता-अकर्त्ता मानता हूं। इसका उद्‌भव भी मेरे स्याद्‌वाद में से होता है। मैं जैनों के स्थान पर बैठकर उसका कर्तृत्व सिद्ध करता हूं और रामानुज के स्थान पर बैठकर उसका अकर्तृत्व। हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं। इसलिए हमारी भाषा तोतली है, अपूर्ण है और कभी-कभी तो वक्र तक हो बैठती है। इसीलिए तो ब्रह्म के लिए वेदों ने अलौकिक शब्दों की रचना की और उसको 'नेति' कहकर पुकारा है। यद्यपि वह नहीं है, फिर भी वह है। अस्ति, सत्, सत्य, 0,1,11..... यह कह सकते हैं। हम लोग हैं, हमें पैदा करने वाले माता-पिता हैं और उनको भी पैदा करनेवाले हैं . . . इसलिए सबको पैदा करने वाला भी एक है; यह मानने में कोई पाप नहीं है बल्कि पुण्य है, यह मानना धर्म है। यदि वह नहीं हैं, तो हम भी नहीं हैं। इसीलिए हम सब उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्ला, खुदा, दादा

होरमज, जिहोवा, गॉड इत्यादि अनेक और अनन्त नामों से पुकारते हैं। वह एक है, अनेक है; अणु से भी छोटा है, और हिमालय से भी बड़ा है; समुद्र के एक बिन्दु में भी समा सकता है और सात समुद्र मिलकर भी उसे अपने भीतर समाविष्ट न कर सकें, इतना विशाल है वह। उसे जानने के लिए बुद्धि का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से परे है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी बुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है अं. . मैं किसी कट्टर नास्तिक से विवाद करने में हार भी सकता हूं; फिर भी मेरी श्रद्धा मेरी बुद्धि से इतनी अधिक आगे दौड़ती है कि समस्त संसार के विरोध करने पर भी मैं यही कहूंगा कि ईश्वर है, और अवश्य है।

लेकिन जिसे ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करना हो, उसे इनकार करने का अधिकार है, क्योंकि वह तो दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह कोई मिट्टी का बना हुआ राजा तो है नहीं कि उसे अपनी सत्ता स्वीकार कराने के लिए सिपाही रखने पड़ें। वह तो हम लोगों को स्वतन्त्रता देता है, फिर भी केवल अपनी दया के बल से हम लोगों का शासन करता है। लेकिन हम लोगों में से यदि कोई उसका शासन नहीं मानता तो भी वह कहता है: ''खुशी से मेरा शासन न मानो; मेरा सूर्य तो तुम्हें भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसायेगा। मुझे अपनी सत्ता चलाने के लिए तुम पर बलात्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं।'' ऐसे ईश्वर की सत्ता को वह भले ही न माने जो नादान है; लेकिन मैं उसे माननेवाले करोड़ों बुद्धिमानों में से एक हूं, इसलिए उसको सहस्र बार प्रणाम करने पर भी नहीं थकता।



23

# ईश्वर है

एक ऐसी अव्यक्त, अपरिभाषित, रहस्यमयी शक्ति अवश्य है, जो विश्व के कण-कण में व्याप्त है। मुझे उसकी प्रतीति होती है, हालांकि मैं उसे देख नहीं पाता। यही वह अदृश्य शक्ति है जिसके प्रभाव का अनुभव तो होता है पर वह किसी भी प्रमाण की पकड़ में नहीं आती। क्योंकि मैं अपनी इन्द्रियों के जरिये जिन चीजों का अनुभव कर पाता हूं, वह उन सबसे सर्वथा भिन्न है। वह अतीन्द्रिय है।

लेकिन एक सीमा तक ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना सम्भव है। संसार के सामान्य कार्यों में भी लोगों को यह जानकारी तो नहीं रहती कि यह सब-कुछ किसके चलाये चल रहा है और वह क्यों और किस ढंग से संसार का नियमन करता है, परन्तु इतना वे निश्चित तौर पर समझते हैं कि कोई शक्ति है अवश्य जो संसार का संचालन कर रही है। पिछले वर्ष मैसूर के अपने दौरे में मैंने अनेक निर्धन ग्रामीणों से बातचीत के दौरान पाया कि उनको यह भी नहीं मालूम था कि मैसूर का शासक कौन है। उन्होंने इतना ही उत्तर दिया कि कोई देवता शासन करता है। यदि वे गरीब लोग अपने शासक के बारे में इतना कम जानते थे तो फिर मेरी क्या बिसात? अपने शासक की तुलना में वे जितने छोटे हैं, मैं तो ईश्वर की तुलना में उससे न जाने कितना छोटा हूं। इसलिए यदि मैं ईश्वर के अस्तित्व को, सम्राटों के सम्राट के अस्तित्व को, महसूस न कर पाऊं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात? फिर भी मैं इतना महसूस करता हूं-

---

11.10.1928, पृष्ठ 361-365, खंड-37, गांधी वाङ्मय

जैसे कि वे ग्रामीण मैसूर के बारे में महसूस करते थे—कि ब्रह्माण्ड में एक व्यवस्था है, एक अटल नियम विश्व की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी का नियमन कर रहा है। वह नियम अंधा नहीं है, क्योंकि कोई भी अन्धा या विवेकशून्य नियम जीवधारी प्राणियों के आचरण का नियमन नहीं कर सकता। और अब तो सर जगदीशचन्द्र बसु की आश्चर्यजनक खोजों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि पदार्थ तक जीवमय है। इस प्रकार विश्व के समस्त जीवन का नियमन करनेवाला नियम ही ईश्वर है। नियम और नियामक एक ही हैं। चूंकि मैं उस नियम या नियामक—ईश्वर—के बारे में इतना कम जानता हूं, इसीलिए मुझे उसके अस्तित्व को मानने से इनकार तो नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार किसी भौतिक शक्ति को मानने से मेरे इनकार करने या उसके बारे में अज्ञान बने रहने से मैं उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर या उसके नियम को स्वीकार न करने से तो मैं उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह पाऊंगा। दूसरी ओर नतशिर होकर मूक भाव से ईश्वरीय शक्ति को स्वीकार कर लेने से जीवन-यात्रा उसी प्रकार सुगम-सरल हो जाती है जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि उस सांसारिक सत्ता को, जिसके अधीन वह रहता है, स्वीकार कर ले तो उसकी जिन्दगी आसान हो जाती है।

मुझे एक आभास-सा तो अवश्य होता है कि इस सतत परिवर्तनशील और नाशवान विश्व के पीछे कोई ऐसी चेतन शक्ति है, जो स्वयं अपरिवर्तनशील है, जो कण-कण को एक सूत्र में बांधे है, जो सृजन, संहार और नव-सृजन करती रहती है। वह सर्वज्ञ शक्ति ही ईश्वर है। और चूंकि अपने मात्र इन्द्रिय-ज्ञान के बल पर मैं जितनी भी वस्तुओं की प्रतीति कर पाता हूं, वे सभी नाशवान हैं, अनित्य हैं, इसलिए एक ईश्वर ही अनश्वर और नित्य है।

और यह शक्ति मंगलकारी है या अमंगलकारी? मुझे तो वह पूर्णतया मंगलकारी ही लगती है। इसलिए कि मैं देखता हूं कि मृत्यु के वातावरण में जीवन, असत्य के घमासान में सत्य और अन्धकार की चपेट में प्रकाश अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। इसी से मैं निष्कर्ष निकालता हूं कि ईश्वर जीवन, सत्य और प्रकाश-रूप है। वह प्रेम है। वह परम शिव-तत्त्व है।

मगर यदि ईश्वर बुद्धि को सन्तोष दे भी सकता हो तो वह ईश्वर ईश्वर नहीं है जो केवल बुद्धि को ही सन्तोष दे। ईश्वर तो तभी ईश्वर कहा जा सकता है जब उसका साम्राज्य हृदय पर हो, वह हृदय को बदल सके। उसके बन्दे के

हर एक, छोटे से छोटे काम में भी उसकी झलक मिलनी चाहिए। यह तो तभी हो सकता है जब उसका सच्चा दर्शन मिले। वह दर्शन पांच इन्द्रियों के ज्ञान से अधिक सच्चा होना चाहिए। इन्द्रियों का ज्ञान हमें चाहे जितना सच्चा क्यों न मालूम हो, किन्तु वह गलत हो सकता है, बहुत बार इन्द्रियां हमें धोखा देती हैं। जो ज्ञान इन्द्रियों के परे होता है, उसमें भूल नहीं हो सकती। यह बाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, बल्कि अपने भीतर ईश्वर की सच्ची अनुभूति करनेवाले के आचार-व्यवहार तथा चरित्र में परिवर्तन से सिद्ध होता है।

इस प्रकार का साक्ष्य सभी देशों तथा जातियों के नबी-पैगम्बरों, ऋषि-मुनियों के अनुभव में मिलता है जिनकी शृंखला कभी टूटती नहीं। इस प्रमाण को अस्वीकार करना अपने अस्तित्व को अस्वीकार करना है।

ऐसा अनुभव अटूट आस्था के आधार पर ही प्रतिफलित होता है। जो भी व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व का स्वयं अनुभव करके देखना चाहे, वह जीवन्त आस्था के बल पर ही ऐसा कर सकता है। और चूंकि आस्था को भी किसी बाह्य प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए सबसे निरापद मांग यही है कि संसार के नैतिक नियमन पर और इसीलिए नैतिक नियम को, सत्य तथा प्रेम के नियम को, सर्वोपरि नियम मानकर उसपर आस्था रखी जाये। और उस आस्था का मार्ग अपनाना उसी व्यक्ति के लिए सर्वाधिक फलप्रद रहेगा, जो सत्य और प्रेम के विरुद्ध पड़नेवाली हर चीज का सर्वथा त्याग करने का दृढ़ संकल्प कर लेगा।

बुराई के अस्तित्व का मैं अन्य कोई युक्तिसंगत कारण नहीं सोच पाता। ऐसा करने की इच्छा करना अपने-आपको ईश्वर का समकक्षी मान लेना है। इसलिए मैं पूरी विनम्रता के साथ बुराई को बुराई के रूप में स्वीकार करके ही सन्तुष्ट हूं। और मैं ईश्वर को अत्यन्त सहिष्णु और धैर्यशील भी इसीलिए कहता हूं कि वह बुराई को संसार में रहने देता है। मैं जानता हूं कि ईश्वर में बुराई का तत्त्व एकदम नहीं है, वह सर्वथा शुद्ध है, और इसके बावजूद यदि बुराई है, तो वह उससे अछूता है।

मैं यह भी जानता हूं कि यदि मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर बुराई के विरुद्ध संघर्ष नहीं करूंगा तो मैं ईश्वर को कभी भी नहीं जान पाऊंगा। मेरा अपना तुच्छ और सीमित अनुभव मेरे इस विश्वास को पुष्ट बनाता है। मैं शुद्ध-पवित्र बनने का जितना ही अधिक प्रयत्न करता हूं, अपने-आपको ईश्वर के

उतना ही निकट महसूस करता हूं। आज तो मुझमें नाम-मात्र की ही श्रद्धा है, फिर भी मैं अपने-आपको उसके कुछ निकट महसूस करता हूं। पर जब मेरी श्रद्धा हिमालय-जैसी अटल और उसकी चोटियों के हिम-जैसी धवल और उज्ज्वल बन जायेगी तब मैं कितनी अधिक निकटता उससे महसूस करने लगूंगा? तब पत्र-लेखक से मेरा आग्रह है कि तब तक वे न्यूमैन की इस प्रार्थना का पाठ करें। न्यूमैन ने अपने अनुभव के आधार पर यह गीत रचा था :

इस घिरते अंधकार में, हे प्रेममय ज्योति
मेरा मार्ग आलोकित कर;
मैं घर से बहुत दूर पड़ा हूं और रात अंधेरी है,
हे ज्योति, मेरा मार्ग आलोकित कर;
मेरे लड़खड़ाते पैरों को तू बल दे,
बहुत दूर-दूर तक मेरा पथ दीप्त हो उठे-
ऐसा मैं नहीं कहता, मैं तो चाहता हूं बस एक डग-भर,
एक डग-भर का आलोकित पथ पर्याप्त होगा मेरे लिए।

[अंग्रेजी से]
**यंग इंडिया**, 11.10.1928



## 24

# भाषण : लोजान की सभा में

आपने मुझसे पूछा है कि मैं ऐसा क्यों मानता हूं कि ईश्वर सत्य है। अपने बचपन या किशोरावस्था में मुझे, हिन्दू-धर्मशास्त्रों में जिन्हें ईश्वर के सहस्रनाम [ विष्णु सहस्रनाम] कहा गया है, उनका जप करना सिखाया गया था। हमारे परिवार के पास धार्मिक शिक्षा देनेवाली जो अनेक छोटी-मोटी वस्तुएं थीं उनमें एक वह छोटी-सी पुस्तिका भी थी जिसमें ईश्वर के सहस्रनाम दिये गये थे। परन्तु इन सहस्रनामों में ही ईश्वर की सारी नामावली समाप्त नहीं हो जाती। हम मानते हैं-और मेरे विचार से यही सत्य है-कि जितने प्राणी हैं, उतने ही ईश्वर के नाम हैं, और इसलिए हम यह भी कहते हैं कि ईश्वर अनाम है; और चूंकि उसके अनेक रूप हैं, इसलिए हम उसे अरूप कहते हैं; और वह हमसे कई वाणियों में बात करता है, इसलिए हम उसे अवाक् कहते हैं; इत्यादि-इत्यादि। इसी तरह मैंने इस्लाम का अध्ययन किया तब मुझे पता लगा कि इस्लाम में भी ईश्वर के अनेक नाम हैं। जो यह कहते हैं कि ईश्वर प्रेम है, उनके स्वर में स्वर मिलाकर मैं भी कहूंगा कि ईश्वर प्रेम है। लेकिन अपने हृदय की गहराई में मैं यही कहता हूं कि ईश्वर प्रेम-रूप होगा, पर सबसे अधिक तो वह सत्य-रूप है। यदि मनुष्य की वाणी के लिए ईश्वर का सम्पूर्ण वर्णन करना सम्भव हो तो मैं स्वयं तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि ईश्वर सत्य है। किन्तु दो वर्ष पूर्व मैं एक कदम और आगे बढ़ा और मैंने कहा सत्य ही ईश्वर है। ईश्वर सत्य

---

31.12.1931, पृष्ठ 446-449, खंड-48, गांधी वाङ्मय

है और सत्य ही ईश्वर है, इन दोनों बातों के बीच के सूक्ष्म भेद को आप समझते होंगे। इस निष्कर्ष पर मैं इतने वर्षों तक सत्य की अनवरत और कठिन खोज के बाद पहुंचा हूं। मैंने पाया कि सत्य तक पहुंचने का निकटतम मार्ग प्रेम का है। लेकिन मैंने यह भी पाया कि कम से कम अंग्रेजी भाषा में प्रेम (लव) के कई अर्थ हैं; और काम-विकार के अर्थ में मानव-प्रेम तो मनुष्य को गिरानेवाली चीज भी है। मैंने यह भी देखा कि अहिंसा के अर्थ में प्रेम के पुजारियों की संख्या दुनिया में बहुत थोड़ी है और अपनी खोज में आगे बढ़ते हुए मैंने इस बात का खण्डन तो नहीं किया कि 'ईश्वर प्रेम है' [लेकिन] 'ईश्वर प्रेम है', इस बात को समझना (प्रेम के अनेक अर्थ होने के कारण) बहुत कठिन है, और काम-विकार के अर्थ में मानव-प्रेम एक गिरानेवाली वस्तु भी बन जाता है। किन्तु सत्य का दोहरा अर्थ होते मैंने कभी नहीं देखा, और नास्तिकों तक ने सत्य की आवश्यकता या शक्ति को अस्वीकार नहीं किया है। बात इतनी ही नहीं है। सत्य को खोजने की अपनी लगन में उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व तक को अस्वीकार करने में संकोच नहीं किया है-और उनके अपने दृष्टिकोण से यह ठीक भी है। और उन्हीं के तर्क के कारण मेरे मन में यह बात आई कि ईश्वर सत्य-रूप है, यह कहने के बजाय मुझे कहना चाहिए कि सत्य ही ईश्वर है। इस सन्दर्भ में मुझे चार्ल्स ब्रैडलॉ का नाम स्मरण हो आता है। वे एक महान् अंग्रेज थे और आज से कोई पचास वर्ष पहले उनका निधन हुआ। वे बड़ उत्साह से अपने को नास्तिक कहा करते थे। लेकिन मैं चूंकि किसी हद तक उनके जीवन के विषय में जानकारी रखता हूं, इसलिए मैंने उन्हें कभी भी नास्तिक नहीं माना। मैं तो उन्हें ईश्वर से डरकर चलनेवाला आदमी ही कहूंगा, हालांकि वे इस बात को स्वीकार नहीं करते और मैं जानता हूं कि मेरी बात सुनकर उनका चेहरा लाल हो जाता था। मैं तो उनसे यही कहता : नहीं ब्रैडलॉ साहब, नहीं, आप ईश्वर से डरकर चलनेवाले आदमी नहीं, बल्कि सत्य से डरनेवाले आदमी हैं। और जिस प्रकार मैंने अनेक युवकों को निरुत्तर कर दिया उसी प्रकार उन्हें भी यह कहकर निरुत्तर कर देता कि "सत्य ही ईश्वर है।" "ईश्वर सत्य है", ऐसा कहने में एक दूसरी कठिनाई यह है कि ईश्वर का नाम करोड़ों लोगों ने लिया है और साथ ही उसके नाम पर अवर्णनीय अत्याचार किये हैं। ऐसा नहीं है कि सत्य के नाम पर वैज्ञानिक लोग बहुधा क्रूरता नहीं बरतते। मुझे मालूम है कि आज सत्य और विज्ञान के नाम पर पशुओं की चीर-फाड़ के सिलसिले

में उनके साथ कैसी अमानवीय क्रूरता बरती जाती है। मैं इसे ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करना मानूंगा भले ही आप चाहे ईश्वर को सत्य कहें या कोई और नाम दें। सारांश यह कि ईश्वर का वर्णन चाहे जिस नाम से किया जाये, उसमें अनेक कठिनाइयां हैं। लेकिन मानव-मस्तिष्क की क्षमता सीमित है, और जब हम ऐसी सत्ता के विषय में सोचते हैं जो मनुष्य की समझ से परे है तब हमें अपने मस्तिष्क की क्षमता की उस सीमा के भीतर ही काम करना पड़ता है। किन्तु हिन्दू तत्त्वज्ञान में एक बात और है। वह कहता है, केवल ईश्वर का ही अस्तित्व है, उसके अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। इस्लाम के उस प्रसिद्ध वचन में जिसे 'कलमा' कहा जाता है इसी सत्य को जोर देकर कहा और समझाया गया है। उसमें साफ-साफ कहा गया है-और मुसलमानों को हर इबादत के समय उसे दोहराना पड़ता है-केवल अल्लाह ही है, और कुछ नहीं है। यही बात सत्य के साथ भी है, और सत्य के लिए संस्कृत में जो शब्द है-अर्थात् सत्-उसका शब्दार्थ ही 'जो है' होता है। इन कारणों तथा और भी अनेक कारणों से, जो मैं बता सकता हूं, मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि सत्य ही ईश्वर है। और जब आप सत्य को ईश्वर के रूप में पाना चाहते हैं तो उसका एकमात्र अनिवार्य साधन प्रेम, अर्थात् अहिंसा है। चूंकि मैं मानता हूं कि अन्ततः साधन और साध्य समानार्थक शब्द हो जाते हैं, इसलिए मुझे यह कहने में संकोच नहीं होगा कि ईश्वर प्रेम है।

प्र० : तो फिर सत्य क्या है?

उ० : प्रश्न तो कठिन है, लेकिन मैंने अपने लिए उसका हल निकाल लिया है-वह यह है कि जो हमारी अन्तरात्मा कहे, वही सत्य है। इसपर आप पूछेंगे कि तब फिर अलग-अलग लोग अलग-अलग और एक-दूसरे के विरुद्ध सत्यों की कल्पना कैसे करते हैं?

इसका उत्तर यह है कि मानव मन असंख्य माध्यमों में काम करता है और प्रत्येक मनुष्य के मन का विकास एक-सा ही नहीं हुआ है, इसलिए यह परिणाम तो आयेगा ही कि जो एक के लिए सत्य हो वह दूसरे के लिए असत्य हो। इसीलिए जिन लोगों ने ये प्रयोग किये हैं वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इन प्रयोगों में कुछ शर्तों का पालन करना आवश्यक है। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग करनेवाले सभी लोगों के लिए एक सामान्य और अनिवार्य पद्धति है उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयोग करने की इच्छा रखनेवालों के लिए

भी कुछ शर्तों का पालन करना आवश्यक है। और चूंकि हर आदमी कहता है कि उसकी अन्तरात्मा की आवाज ही उससे अमुक बात कह रही है, इसलिए आपको उस आवाज को सुनना चाहिए, और तब आप जैसे-जैसे अपनी साधना के पथ पर आगे बढ़ेंगे, आपको अपनी मर्यादाओं का बोध होता जायेगा। इसलिए सतत अनुभवों के आधार पर हमारा यह विश्वास बना है कि जो लोग लगन के साथ सत्य की-ईश्वर की-खोज करना चाहते हैं उन्हें कुछ व्रतों का पालन करना ही चाहिए। वे व्रत हैं : सत्य-अर्थात् सत्य बोलना और सत्य ही सोचना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, गरीबी और अपरिग्रह। अगर आप इन सुन्दर व्रतों का पालन नहीं करते तो फिर आपको यह प्रयोग आरम्भ नहीं करना चाहिए। इसके लिए कई और भी नियम निर्धारित किये गये हैं, लेकिन यहां मैं उनका विवेचन नहीं करूंगा। लेकिन जिन्होंने ये प्रयोग किये हैं, वे जानते हैं कि हर व्यक्ति का अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुन सकने का दावा उचित नहीं है, और आज जो संसार के सामने इतनी अधिक असत्य बातें रखी जा रही हैं कि वह हैरान है, उसका कारण यही है कि हर आदमी इस प्रयोग के लिए आवश्यक नियमों का पालन किये बिना अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनने का दावा करता है। इसलिए मैं संपूर्ण विनम्रता के साथ केवल इतना ही निवेदन कर सकता हूं कि जिसमें विनय नहीं है, वह कभी भी सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। अगर आप सत्य-रूपी सागर की सतह पर तैरना चाहते हैं तो आपको अपने को शून्य बना देना होगा, अपना अहं बिलकुल मिटा देना होगा। इस मन्त्रमुग्ध कर लेने वाले विषय पर आज की रात इससे आगे कुछ नहीं कहूंगा।



# 25

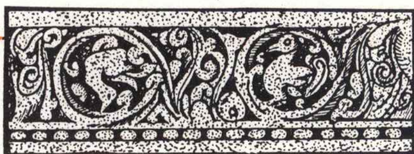
## भाषण : इलवा सभा, त्रिवेन्द्रम में

मैंने महान पद्मनाभ मन्दिर में जो कुछ देखा, उसका उल्लेख मुझे अवश्य करना चाहिए। विशुद्ध और आध्यात्मिक पुनर्जागृति के विषय में मैं जो कुछ कह रहा हूं, वह उसके उल्लेख से सबसे अच्छी तरह उजागर होगा। माता-पिता ने मुझमें जैसी श्रद्धा-भक्ति का संचार किया था, मन में वैसी श्रद्धा-भक्ति लेकर ही युवावस्था में मैं मन्दिरों में जाया करता था। लेकिन इधर कुछ वर्षों से मैं मन्दिरों में नहीं गया हूं और जबसे मैं अस्पृश्यता-निवारण के काम में लगा हूं, तंबसे तो मैं ऐसे किसी मन्दिर में नहीं गया हूं जो तथाकथित अस्पृश्यों के लिए खुला न हो। इसलिए आज प्रात:काल मैंने मन्दिर में जो कुछ देखा उसमें मुझे ऐसी ही नवीनता दिखाई दी जैसी नवीनता के दर्शन उन बहुत से अवर्ण हिन्दुओं को हुए होंगे जो इस घोषणा के बाद मन्दिर में गये हैं। कल्पना के परों के सहारे मेरा मन प्रागैतिहासिक काल में जा पहुंचा। मनुष्य में ईश्वर बोध जगा था और उसने पाषाणों और धातुओं की मूर्त्तियों में उस बोध को अभिव्यक्ति देना आरम्भ किया था। मैंने स्पष्ट लक्षित किया कि जो पुजारी अपनी सुन्दर हिन्दी में मुझे प्रत्येक प्रतिमा का मर्म समझा रहा था वह मुझे यह नहीं बताना चाहता था कि इनमें से प्रत्येक में ईश्वर का निवास है। लेकिन प्रतिमाओं को वह विशेष व्याख्या दिये बिना उसने मुझे यह अनुभव करा दिया कि इनमें से प्रत्येक मन्दिर उस अदृश्य, अलख और वर्णनातीत शक्ति-ईश्वर से, इस अगाध सृष्टिसागर में तुच्छ

---

20.1.1937, पृष्ठ 266-267, खंड-64, गांधी वाङ्मय

बूंदों के समान पड़े हम मानवों का सम्बन्ध जोड़ने वाला महासेतु है। हम सभी लोग तत्त्वचिन्तक नहीं हैं। हम तो मिट्टी के पुतले हैं, मिट्टी में लीन और अदृश्य ईश्वर के विषय में चिन्तन-भर करने से हमें सन्तोष नहीं मिलता। चाहे जिस कारण भी हो हम कोई ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसका हम स्पर्श कर सकें, जिसे देख सकें और जिसके समक्ष श्रद्धापूर्वक विनत हो सकें। वैसी वस्तु कोई पुस्तक है, या पत्थरों की बनी सूनी-खाली कोई इमारत है, या ईट-पत्थरों की कोई ऐसी इमारत है जिसमें अनेक प्रतिमाएं हैं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। कुछ लोगों को किसी पुस्तक से सन्तोष मिलेगा, कुछ को किसी खाली-सूनी इमारत से और कुछ लोग तब तक सन्तुष्ट नहीं होंगे जब तक कि उस इमारत में उन्हें कुछ प्रतिमाएं आदि भी देखने को न मिलें। तो मेरा कहना यह है कि आप इन मन्दिरों में इन्हें अन्धविश्वासों का घर मानकर न जायें। अगर आप इनमें श्रद्धापूर्वक जायेंगे तो जितनी बार जायेंगे उतनी बार आप वहां से शुद्ध होकर और जीवन्त ईश्वर में अपनी आस्था को अधिक दृढ़ बनाकर बाहर आयेंगे।



# 26

## 'गीता' का अर्थ

एक मित्र इस प्रकार प्रश्न करते हैं :

'गीता' का सन्देश क्या है? हिंसा या अहिंसा? मालूम होता है यह प्रश्न कभी हल नहीं होगा। यह बात और है कि हम 'गीता' में किस सन्देश को देखना चाहते हैं और उसमें से कौन-सा सन्देश निकालना चाहते हैं; और यह दूसरी ही बात है कि उसको पढ़ते ही क्या छाप पड़ती है। जिसके दिल में यह बात जम गई है कि अहिंसातत्त्व ही जीवन-सन्देश है उसके लिए तो यह प्रश्न गौण है। वह तो यही कहेगा कि 'गीता' में से अहिंसा निकलती हो तो मुझे वह ग्राह्य है। इतने भव्य ग्रन्थ में से अहिंसा जैसा भव्य धार्मिक सिद्धान्त ही निकलना चाहिए। किन्तु यदि न निकलता हो तो भी कोई बात नहीं है। हम 'गीता' को आदर से पूजेंगे; लेकिन उसे प्रमाण-ग्रन्थ नहीं मानेंगे।

काम की भीड़ में से कुछ समय निकालकर आप इसका जवाब दें तो अच्छा हो।

ऐसे प्रश्न तो हुआ ही करेंगे और जिसने कुछ अध्ययन किया है उसे उनका यथाशक्ति जवाब भी देना होगा। किन्तु इनका समाधान कर देने पर भी आखिर यह तो कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य करेगा वही जिसे उसका हृदय उससे करने को कहेगा। पहले हृदय है, फिर बुद्धि। प्रथम सिद्धान्त, फिर प्रमाण। प्रथम स्फुरणा, फिर उसके अनुकूल तर्क। प्रथम कर्म और फिर बुद्धि। इसलिए बुद्धि

12.11.1925, पृष्ठ 327-332, खंड-28, गांधी वाङ्मय

कर्मानुसारिणी कही गई है। मनुष्य जो कुछ भी करता है या करना चाहता है उसका समर्थन करने के लिए प्रमाण भी ढूंढ निकालता है।

इसलिए मैं यह समझता हूं कि 'गीता' का मेरा अर्थ सबके अनुकूल न होगा। ऐसी स्थिति में यदि मैं इतना ही कहूं कि 'गीता' के अपने अर्थ पर मैं किस तरह पहुंचा और धर्मशास्त्रों का अर्थ निकालने में मैंने किन-किन सिद्धान्तों को मान्य रखा है तो यही बस होगा। "परिणाम चाहे जो हो मुझे तो युद्ध करना चाहिए। जो शत्रु मरने योग्य हैं, वे तो स्वयं ही मरे हुए हैं मुझे तो उनको मारने में मात्र निमित्त बनना है।"

सन् 1889 में 'गीताजी' से मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र 20 साल की थी। उस समय मैं अहिंसा-धर्म को बहुत ही थोड़ा समझता था। शत्रु को भी प्रेम से जीतना चाहिए यह मैंने गुजराती कवि शामल भट्ट के छप्पय "पाणी आपे ने पाय भलुं भोजन तो दीजे" से सीखा था। इसमें निहित सत्य मेरे हृदय में अच्छी तरह बैठ गया था। किन्तु उस समय मुझे उसमें से जीवदया की स्फुरणा नहीं हुई थी। इसके पहले मैं देश में ही मांसाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सर्पादि का नाश करना धर्म है। मुझे याद आता है कि मैंने खटमल इत्यादि जीवों को मारा है। मुझे तो यह भी याद आता है कि मैंने एक बिच्छू को भी मारा था। मैं अब यह समझ गया हूं कि ऐसे विषैले जीवों को भी नहीं मारना चाहिए। उस समय मैं यह मानता था कि हमें अंग्रेजों के साथ सशस्त्र युद्ध की तैयारी करनी होगी। 'अंग्रेज राज्य करते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है' मैं इस मतलब की एक कविता गुनगुनाया करता था। मैंने मांसाहार इसी की तैयारी के विचार से किया था। विलायत जाने से पहले मेरे ऐसे विचार थे। मैं मांसाहार आदि से बच गया इसका कारण माता को दिये हुए वचनों का मरणपर्यन्त पालन करने का मेरा संकल्प था। सत्य के प्रति मेरे प्रेम ने बहुत-सी आपत्तियों में मेरी रक्षा की है।

फिर दो अंग्रेजों से सम्बन्ध होने पर मुझे 'गीता' पढ़नी पड़ी। 'पढ़नी पड़ी' इसलिए कहता हूं क्योंकि उसे पढ़ने की मुझे कोई खास इच्छा न थी। लेकिन जब इन दो भाइयों ने मेरे साथ 'गीता' पढ़नी चाही तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्म-शास्त्रों का कुछ भी ज्ञान नहीं है, इस खयाल से मुझे बड़ा दु:ख हुआ। मालूम होता है, इस दु:ख का कारण अभिमान था। मेरा संस्कृत का अध्ययन ऐसा तो था ही नहीं कि 'गीताजी' के सब श्लोकों का अर्थ मैं बिना

किसी मदद से ठीक-ठीक समझ लेता। ये दोनों भाई तो कुछ भी नहीं समझते थे। उन्होंने सर एडविन आर्नोल्ड का 'गीताजी' का बहुत ही अच्छा काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने फौरन ही उस पुस्तक को पढ़ डाला और उसपर मैं मुग्ध हो गया। तबसे लेकर आज तक दूसरे अध्याय के अन्तिम 19 श्लोक मेरे हृदय में अंकित हैं। मेरे लिये तो सब धर्म उसी में आ गया है। उसमें सम्पूर्ण ज्ञान है। उसमें कहे हुए सिद्धान्त अचल हैं। उसमें बुद्धि का भी सम्पूर्ण प्रयोग किया गया है। लेकिन यह बुद्धि संस्कारी बुद्धि है। उसमें अनुभव-ज्ञान है।

इस परिचय के बाद मैंने बहुत से अनुवाद पढ़े, बहुत-सी टीकाएं पढ़ीं, बहुत से तर्क किये और सुने; लेकिन पहली बार पढ़ने पर ही जो छाप मुझ पर पड़ी थी वह दूर नहीं हुई। ये श्लोक 'गीताजी' के अर्थ समझने की कुंजी हैं। उससे विरोधी अर्थवाले वचन यदि मिलें तो मैं उनका त्याग करने की भी सलाह दूंगा। नम्र और विनयी मनुष्य को तो उन्हें त्यागने की भी जरूरत नहीं है। वह तो सिर्फ यही कहे कि दूसरे श्लोकों का आज इसके साथ मेल नहीं मिलता तो यह मेरी बुद्धि का ही दोष है; समय बीतने पर इनका और इन उन्नीस श्लोकों में कहे गये सिद्धान्तों का भी मेल मिलकर रहेगा। अपने मन से और दूसरों से यह कहकर वह निश्चिन्त हो जायेगा।

शास्त्रों का अर्थ करने में संस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। 'शूद्र को वेदाध्ययन करने का अधिकार नहीं' यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात् असंस्कारी, मूर्ख, अज्ञानी। ऐसे व्यक्ति वेदादि का अध्ययन करके उनका अनर्थ करेंगे। बड़ी उम्र के भी सब लोग बीजगणित के कठिन प्रश्न अपने-आप समझने के अधिकारी नहीं हैं। उनको समझने के पहले उन्हें कुछ प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। व्यभिचारी के मुख में 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

अर्थात् शास्त्र का अर्थ करनेवाला यमादि का पालन करनेवाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जैसा कठिन है वैसा ही निरर्थक भी है। शास्त्रों ने गुरु का होना आवश्यक माना है, लेकिन इस जमाने में गुरुओं का तो करीब-करीब लोप-सा हो गया है। ज्ञानी लोक इसीलिए भक्तिप्रधान प्राकृत ग्रन्थों का पठन-पाठन करने की शिक्षा देते हैं। किन्तु जिसमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वह शास्त्र का अर्थ करने का अधिकारी नहीं होता। विद्वान् लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमें से भले ही निकालें, लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं है। शास्त्रार्थ तो अनुभवी

ही व्यक्त कर सकता है।

परन्तु प्राकृत मनुष्यों के लिए भी कुछ सिद्धान्त तो हैं ही। शास्त्रों के वे अर्थ जो सत्य के विरोधी हैं, सही नहीं हो सकते। जिसे सत्य के सत्य होने के बारे में ही शंका है उसके लिए शास्त्र हैं ही नहीं; अथवा यों कहिए उसके लिए सब शास्त्र अशास्त्र हैं। किसी में उसका समाधान करने की शक्ति नहीं है। जिसे शास्त्र में से अहिंसा नहीं प्राप्त हुई, उसके लिए भय है; लेकिन उसका उद्धार न हो यह बात नहीं है। सत्य स्वीकारात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य जो वस्तु होनी चाहिए उसकी साक्षी भरता है, अहिंसा जो [बाह्यत:] है उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होनी चाहिए यही परम धर्म है। सत्य स्वयं सिद्ध है। अहिंसा उसका 'सम्पूर्ण फल' है, सत्य में वह छिपी हुई है। वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किये बिना मनुष्य शास्त्र का चाहे जितना शोध करे, सत्य आखिर उसे अहिंसा का ही पाठ पढ़ायेगा।

सत्य के लिए तपश्चर्या तो करनी ही पड़ती है। सत्य का साक्षात्कार करनेवाले तपस्वी ने चारों ओर फैली हुई हिंसा में से अहिंसा देवी को संसार के सामने प्रकट करके कहा : हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसा के लिए ही हैं। ये अहिंसा को सिद्ध करनेवाली शक्तियां हैं। अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। सत्यार्थी अपनी शोध के लिए प्रयत्न करते हुए यह सब बड़ी जल्दी समझ लेता है। फिर उसे शास्त्र का अर्थ करने में कोई दिक्कत पेश नहीं आती।

शास्त्र का अर्थ करने में दूसरा नियम यह है कि उसके शब्दों को पकड़ कर नहीं बैठना चाहिए, उसकी ध्वनि को देखना चाहिए, उसके मर्म को समझना चाहिए। तुलसीदासजी की 'रामायण' उत्तम ग्रन्थ है। क्योंकि उसकी ध्वनि है– स्वच्छता, दया, भक्ति। उसमें 'शूद्र गंवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' लिखा है; इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को ताड़े तो उसकी अधोगति होगी। रामचन्द्रजी ने सीताजी पर कभी प्रहार नहीं किया, इतना ही नहीं उन्हें कभी दु:ख भी नहीं पहुंचाया। तुलसीदासजी ने केवल एक प्रचलित वाक्य लिख दिया। उन्हें इस बात की कल्पना भी न रही होगी कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी अर्द्धांगिनी की ताड़ना करनेवाले पशु भी निकल आयेंगे। और यदि स्वयं तुलसीदासजी ने रिवाज के वशवर्ती होकर अपनी पत्नी

का ताड़न किया हो, तो भी क्या होता है? ताड़ना अवश्य ही दोषपूर्ण बात है। 'रामायण' पत्नी के ताड़ने के लिए नहीं, पूर्ण पुरुष का दर्शन कराने के लिए, सती शिरोमणि सीताजी का परिचय कराने के लिए और भरत की आदर्श भक्ति का चित्र-चित्रित करने के लिए लिखी गई है। दोषयुक्त रिवाजों का जो समर्थन उसमें पाया जाता है वह त्याज्य है। तुलसीदासजी ने भूगोल सिखाने के लिए अपना अमूल्य ग्रन्थ नहीं बनाया है, इसलिए उनके ग्रन्थ में यदि भूगोल की दृष्टि से गलत बातें पाई जायें तो उनको अस्वीकार करना उचित है।

अब 'गीताजी' की बात लें। ब्रह्मज्ञान प्राप्ति और उसका साधन यही 'गीताजी' का विषय है। दो सेनाओं के बीच युद्ध का होना निमित्त है। यह भले ही कहा जा सकता है कि कवि स्वयं युद्धादि को निषिद्ध नहीं मानते थे और इसलिए उन्होंने युद्ध के प्रसंग का इस प्रकार उपयोग किया है। किन्तु महाभारत पढ़ने के बाद तो मेरे ऊपर भिन्न ही छाप पड़ी है। व्यासजी ने इतने सुन्दर ग्रन्थ की रचना करके युद्ध के मिथ्यात्व का ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो उससे क्या हुआ? और पाण्डव जीते तो उससे भी क्या हुआ? विजयी कितने बचे? उनका क्या हुआ? कुन्ती माता का क्या हुआ? और आज यादव कुल कहां है?

जहां मुख्य विषय युद्ध वर्णन और हिंसा का प्रतिपादन नहीं है वहां उसपर जोर देना केवल अनुचित ही माना जायेगा। और यदि कुछ श्लोकों का सम्बन्ध अहिंसा के साथ बैठाना मुश्किल मालूम होता है तो सारी 'गीताजी' को हिंसा के चौखटे में मढ़ना उससे कहीं ज्यादा मुश्किल है।

कवि जब किसी ग्रन्थ की रचना करता है तो वह उसके सब अर्थों की कल्पना नहीं कर लेता है। काव्य की यही खूबी है कि वह कवि से भी आगे बढ़ जाता है। जिस सत्य का वह अपनी तन्मयता में उच्चारण कर जाता है उसके जीवन में अक्सर वह नहीं आया करता। इसलिए बहुतेरे कवियों का जीवन उनके काव्यों के साथ सुसंगत मालूम नहीं होता। 'गीताजी' का तात्पर्य कुल मिलाकर हिंसा नहीं, अहिंसा है; यह बात दूसरा अध्याय, जिससे विषय का आरम्भ होता है और 18वां अध्याय जिसमें उसकी पूर्णाहुति होती है, देखने से प्रतीत हो जायेगी। मध्य में देखेंगे तो भी यही प्रतीत होगा। बिना क्रोध के, राग के या द्वेष के हिंसा का होना सम्भव नहीं। और 'गीता' तो क्रोधादि को पार करके गुणातीत की स्थिति में पहुंचाने का प्रयत्न करती है। गुणातीत में क्रोध का सर्वथा अभाव होता है। अर्जुन ने कान तक खींचकर जब-जब धनुष चढ़ाया उस समय

की उसकी लाल-लाल आंखें मैं आज भी देख सकता हूं।

अर्जुन ने अहिंसा के लिए युद्ध छोड़ने की हठ कब की थी। वह तो बहुत से युद्ध लड़ चुका था। उसे तो एकाएक मोह हो गया था और उसी कारण वह अपने सगे सम्बन्धियों को नहीं मारना चाहता था। जिन्हें वह पापी मानता हो उन्हें न मारने की बात अर्जुन ने कहां की थी? श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं। वे अर्जुन का यह क्षणिक मोह समझ लेते हैं और इसलिए उससे कहते हैं, "तुम हिंसा तो कर चुके हो। अब इस प्रकार एकाएक समझदार बनने का दंभ करके तुम अहिंसा नहीं सीख सकोगे। इसलिए जिस काम को तुमने आरम्भ किया है उसे अब तुम्हें पूरा करना ही चाहिए।" घंटे में चालीस मील के वेग से जानेवाली रेलगाड़ी में बैठा हुआ शख्स एकाएक प्रवास से विरक्त होकर यदि चलती हुई गाड़ी से कूद ही पड़े तो यही कहा जायेगा कि उसने आत्महत्या की है। इससे प्रवास या रेलगाड़ी में बैठने के मिथ्यात्व को उसने नहीं सीखा है। अर्जुन का भी यही हाल था। अहिंसक कृष्ण अर्जुन को दूसरी सलाह दे ही नहीं सकता था। लेकिन उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि 'गीताजी' में हिंसा ही का प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है जितना कि यह कहना कि शरीर-व्यापार के लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीर से अशरीरी बनने का अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने का ही धर्म सिखाता है।

लेकिन धृतराष्ट्र कौन था? दुर्योधन, युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे? कृष्ण कौन थे? क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे? और क्या 'गीताजी' में उनके स्थूल व्यवहार का ही वर्णन किया गया है? अकस्मात् अर्जुन सवाल करता है और कृष्ण सारी 'गीता' सुना जाते हैं। और अर्जुन जिसका मोह नष्ट हो गया है यह कहकर भी फिर इसे भूल जाता है और कृष्ण से दुबारा अनुगीता कहलवाता है।

मैं तो दुर्योधनादि को आसुरी और अर्जुनादि को दैवी वृत्ति मानता हूं। यह शरीर ही धर्मक्षेत्र है। उसमें द्वन्द्व चलता ही रहता है और अनुभवी, ऋषि-कवि उसका तादृश वर्णन करते हैं। कृष्ण तो अन्तर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध चित में घड़ी की तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्त को शुद्धिरूपी चाबी नहीं दी गई हो तो अन्तर्यामी का यद्यपि वहां निवास है, लेकिन उनका टिकटिकाना तो बन्द हो ही जाता है।

कहने का आशय यह नहीं है कि इसमें स्थूल युद्ध के लिए अवकाश ही नहीं है; जिसे अहिंसा सूझी ही नहीं है उसे यह नहीं सिखाया गया है कि कायर बनना चाहिए। जिसे भय लगता है, जो संग्रह करता है, जो विषय में रत है वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा। लेकिन उसका वह धर्म नहीं है। धर्म तो एक ही है। अहिंसा के मानी हैं मोक्ष और मोक्ष सत्यनारायण का साक्षात्कार है। पर इसमें पीठ दिखाने को तो कहीं अवकाश ही नहीं है। इस विचित्र संसार में हिंसा तो होती रहेगी। उससे बचने का मार्ग 'गीता' दिखाती है। लेकिन साथ-साथ 'गीता' यह भी कहती है कि कायर होकर भागने से हिंसा से नहीं बच सकोगे। जो भागने का विचार करता है वह मारेगा या मरेगा।

प्रश्नकर्त्ता ने जिन श्लोकों का उल्लेख किया है उनका रहस्य यदि अब भी उनकी समझ में न आये तो मैं समझाने में असमर्थ हूं, सर्वशक्तिमान ईश्वर कर्त्ता, भर्ता और संहर्ता है, और उसे ऐसा ही होना चाहिए। इस विषय में तो कोई शंका उत्पन्न न होगी। जो उत्पन्न करता है वह उसका नाश करने का अधिकार भी अपने पास रखता है। फिर भी वह किसी को नहीं मारता, क्योंकि वह अकर्त्ता है, वह कुछ भी नहीं करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है मरने के लिए जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियम को नहीं तोड़ता। यह उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छन्द और स्वेच्छाचारी बन जाये तो हम सब कहां जायेंगे?



## 27

## भाषण : आरसीकेरे की सार्वजनिक सभा में

हम नहीं जानते कि श्रीकृष्ण के जीवन का हमारे लिए क्या सन्देश है, हम 'गीता' नहीं पढ़ते, हम अपने बच्चों को 'गीता' पढ़ाने का कोई प्रयास नहीं करते। 'गीता' एक ऐसा दिव्य ग्रन्थ है जिसे हर धार्मिक विश्वास, हर आयु और हर देश के व्यक्ति आदरपूर्वक पढ़ सकते हैं और अपने-अपने धर्म के सिद्धान्त उस में पा सकते हैं। यदि हम हर जन्माष्टमी के दिन कृष्ण का ध्यान करें और 'गीता' पाठ करें और उसकी सीखों पर चलने का संकल्प करें तो हमारी दशा ऐसी दयनीय नहीं रहेगी जैसी आज है। श्रीकृष्ण ने जीवन भर जनता की सेवा की। वे जनता के सच्चे सेवक थे। वे कुरुक्षेत्र में सेनाओं का संचालन भी कर सकते थे, पर उन्होंने अर्जुन का सारथी बनना ही पसन्द किया। उनका समूचा जीवन कर्म की एक अविच्छिन्न 'गीता' ही था। उन्होंने घमण्डी दुर्योधन द्वारा भेंट किये गये मिष्ठान्न को ठुकराकर विदुर द्वारा विनम्रतापूर्वक भेंट किया गया साग स्वीकार किया। कृष्ण बाल्यावस्था में गायें चराते थे और हम अब भी उनको गोपाल के नाम से याद करते हैं। परन्तु उनके उपासकों ने, हम लोगों ने आज गो की बिलकुल उपेक्षा कर दी है। आदि कर्नाटक लोग तो गाय का वध करते हैं और गोमांस खाते हैं। इसी से हमारे यहां बच्चों तथा बीमारों को भी गाय का दूध नहीं मिल पाता। कृष्ण के जीवन में निद्रा या निठल्लेपन का कोई स्थान नहीं था। उनकी सतत जागरूक दृष्टि विश्व पर रहती थी। परन्तु हम उनके वंशज अब काहिल बन गये हैं और अपने हाथों से काम करना बिलकुल ही भूल

---

1.9.1927, पृष्ठ 410-411, खंड-34, गांधी वाङ्मय

गये हैं। भगवान् कृष्ण ने 'भगवद्‌गीता' में हमको भक्ति का मार्ग दिखाया है– जो कर्म–मार्ग ही है। लोकमान्य तिलक ने हमें बतलाया है कि हम चाहे भक्त बनने के इच्छुक हों या ज्ञानी बनने के, उसे प्राप्त करने का एक ही मार्ग है– कर्म, परन्तु यह स्वार्थ के लिए नहीं परमार्थ के लिए होना चाहिए। स्वार्थ की दृष्टि से किया गया कर्म व्यक्ति के लिए बन्धनकारी होता है, जबकि परमार्थ के लिए किया गया कर्म उसे बन्धन से मुक्त करता है। ऐसा कौन–सा निःस्वार्थ कर्म हो सकता है, जिसको हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पुरुष, स्त्री और बालक सभी समान रूप से कर सकें? मैंने सिद्ध करने की कोशिश की है कि ऐसा यज्ञ–रूप कार्य कताई ही हो सकता है, क्योंकि यही वह कार्य है जो हम ईश्वर के नाम पर गरीब जनता के लिए कर सकते हैं और जो जनता के शिथिल अंगों को सक्रिय बना सकता है। भगवान् कृष्ण ने हमें यह भी सिखाया है कि यदि हमें सच्चा भक्त बनना है, तो हमें ब्राह्मण और भंगी में भेद नहीं करना चाहिए। यदि यह सच है, तो फिर हिन्दू–धर्म में अस्पृश्यता का कोई स्थान होना ही नहीं चाहिए। यदि आप आज भी इस अंधविश्वास से चिपटे हुए हों तो आपको आज जन्माष्टमी के इस पवित्र दिवस पर ही इसका त्याग करके आत्म–शुद्धि करनी चाहिए। 'गीता' में सच्ची निष्ठा रखनेवाला कोई व्यक्ति हिन्दू और मुसलमान के बीच भेद नहीं करेगा, क्योंकि भगवान् कृष्ण ने कहा है कि कोई चाहे जिस नाम से ईश्वर की उपासना करे, यदि उसकी उपासना सच्ची है तो वह उन्हीं की उपासना है। 'गीता' में प्रतिपादित भक्ति, कर्म या प्रेम के मार्ग में मनुष्य से घृणा करने की कोई गुंजाइश नहीं है।



28

## अनासक्तियोग

अब मैं गीता के अर्थ पर आता हूं।

सन् 1888-89 में जब मुझे गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे यह लगा था कि गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, परन्तु इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन को निमित्त बनाकर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निरन्तर चलनेवाले द्वन्द्व-युद्ध का ही वर्णन किया गया है। मानव योद्धाओं की रचना हृदय के भीतर के युद्ध को रसप्रद बनाने के लिए की गई कल्पना है। मन में पैदा हुई यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और 'गीता' का विशेष चिन्तन-मनन करने के बाद पक्की हो गई। 'महाभारत' पढ़ने के बाद मेरा यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। आदिपर्व में ही इस बात के प्रबल प्रमाण हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास 'भगवान ने' राजा और प्रजा के इतिहास का अस्तित्व समाप्त कर दिया है। महाभारत में वर्णित पात्र मूलतः ऐतिहासिक भले हों, लेकिन महाभारत में तो व्यास भगवान ने उनका उपयोग केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता सिद्ध नहीं की है; परन्तु उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेताओं से उन्होंने रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और उनके जीवन में दुःख के सिवा कुछ भी नहीं रहने दिया है।

इस महाग्रन्थ महाभारत में गीता सर्वोच्च स्थान पर विराजती है। उसका

6.8.1931, पृष्ठ 94-99, खंड-41, गांधी वाङ्मय

दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध का व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ का सांसारिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह बात मुझे तो उसके लक्षणों में ही निहित दिखाई दी है। परिवार के मामूली झगड़े के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय करने के लिए 'गीता' जैसी पुस्तक नहीं रची जा सकती।

'गीता' के कृष्ण मूर्तिमान शुद्ध-सम्पूर्ण ज्ञान हैं; परन्तु वे काल्पनिक हैं। यहां मेरा हेतु कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध करना नहीं है। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूं कि परिपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सम्पूर्ण अवतार का आरोपण उनपर बाद में हुआ है।

अवतार का अर्थ है शरीरधारी विशिष्ट पुरुष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषा में हम सबको अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान पुरुष होता है, उसे भविष्य की प्रजा अवतार के रूप में पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं मालूम होता। इससे न तो ईश्वर की महत्ता को लांछन लगता है, और न इससे सत्य को ही आघात पहुंचता है। . . . 'आदम खुदा नहीं; लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।' जिस पुरुष में अपने युग में सबसे अधिक धर्म-जागृति होती है, वह विशेषावतार माना जाता है। इस विचारसरणी के अनुसार आज हिन्दू-धर्म में कृष्णरूपी परिपूर्ण अवतार चक्रवर्ती सम्राट है।

अवतार में यह विश्वास मनुष्य की अन्तिम उदात्त आध्यात्मिक अभिलाषा का सूचक है। ईश्वर-रूप हुए बिना मनुष्य को सुख नहीं मिलता। शान्ति का अनुभव नहीं होता। ईश्वर-रूप बनने के लिए किये जानेवाले प्रयत्न का ही नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और वही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन जिस प्रकार समस्त धर्मग्रन्थों का विषय है, उसी प्रकार गीता का भी है। लेकिन गीताकार ने गीता की रचना इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए नहीं की है। गीता का उद्देश्य आत्मार्थी को आत्मदर्शन करने का एक अद्वितीय उपाय बताना है। जो बात हिन्दू-धर्मग्रन्थों में यहां-वहां बिखरी हुई देखने में आती है, उसे गीता ने अनेक रूपों में, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष मोल लेकर भी अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है कर्म के फल का त्याग।

इसी केन्द्र-बिन्दु के आसपास गीता का सारा विषय गूंथा गया है। भक्ति,

ज्ञान आदि ने इस केन्द्र-बिन्दु के आसपास तारा-मण्डल के रूप में अपना-अपना उचित स्थान ग्रहण कर लिया है। जहां देह है वहां कर्म तो है ही। कर्म से कोई मनुष्य मुक्त नहीं है। फिर भी सारे धर्मों ने यह प्रतिपादन किया है कि देह को प्रभु का मन्दिर बनाने से उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु प्रत्येक कर्म में कुछ-न-कुछ दोष तो होता ही है। और मुक्ति केवल निर्दोष मनुष्य को ही मिलती है। तब कर्म के बन्धन से अर्थात् दोष के स्पर्श से कैसे छूटा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर गीताजी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है: ''निष्काम कर्म करके; यज्ञार्थ कर्म करके; कर्म के फल का त्याग करके; सारे कर्म कृष्णार्पण करके-अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम कर।''

परन्तु निष्कामता, कर्म के फल का त्याग, केवल कह देने से ही सिद्ध नहीं हो जाता। वह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। वह हृदय-मन्थन से ही उत्पन्न होता है। इस त्याग-शक्ति को उत्पन्न करने के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है। एक प्रकार का ज्ञान अनेक पण्डित प्राप्त कर तो लेते हैं, वेदादि उन्हें कण्ठाग्र होते हैं; परन्तु उनमें से बहुतेरे भोगादि में रचे-पचे रहते हैं। ज्ञान की अतिशयता शुष्क पाण्डित्य का रूप न ले ले, यह सोचकर गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिला दिया; और उसे प्रथम स्थान दिया। भक्ति-रहित ज्ञान विकृत रूप ले सकता है। इसलिए उन्होंने कहा है कि 'भक्ति करो तो ज्ञान की प्राप्ति होगी ही।' परन्तु भक्ति तो 'सिर का सौदा' है। अत: गीताकार ने भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के लक्षणों जैसे बताये हैं।

इसलिए गीता की भक्ति कोई बावलापन नहीं है., अन्धश्रद्धा भी नहीं है। गीता में बताई गई भक्ति का बाहरी चेष्टाओं या क्रियाओं के साथ बहुत ही कम सम्बन्ध है। माला, तिलक, अर्घ्य आदि साधनों का भक्त प्रयोग भले ही करे, परन्तु ये भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भण्डार है, जो अहंता और ममता से मुक्त है, जिसके लिए सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी समान हैं, जो क्षमावान् है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं हैं., जिसने अपना मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग त्रस्त नहीं होते, जो लोगों से डरता नहीं, जो हर्ष-शोक-भय आदि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होते हुए भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु और मित्र दोनों के प्रति समानभाव रखता है, जिसकी दृष्टि में मान और अपमान समान हैं, जो प्रशंसा से फूलता नहीं और

निन्दा से खिन्न नहीं होता, जो मौन धारण किये है, जिसे एकान्त प्रिय है और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह भक्त है।

ऐसी भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में सम्भव नहीं है।

इसपर से हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार रुपया देकर जहर भी खरीदा जा सकता है और अमृत के समान लाभकारी वस्तु भी उसी प्रकार ज्ञान अथवा भक्ति के बदले में बन्धन भी प्राप्त किया जा सके और मोक्ष भी प्राप्त किया जा सके ऐसी बात नहीं है। यहां साधन और साध्य यदि पूर्णतया एक नहीं तो लगभग एक ही हैं। साधन की पराकाष्ठा ही मोक्ष है। और गीता के मोक्ष का अर्थ है परम-शान्ति।

परन्तु ऐसे ज्ञान और ऐसी भक्ति को कर्मफल के त्याग की कसौटी पर चढ़ना होगा। साधारण लोगों की कल्पना में शुष्क पण्डित भी ज्ञानी माना जाता है। उसके लिए कोई काम करना जरूरी नहीं। लोटे जैसी चीज को उठाना भी उसके लिए कर्म-बन्धन का कारण हो जाता है! यज्ञशून्य मनुष्य जहां ज्ञानी माना जाये वहां लोटा उठाने जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया का स्थान ही कैसे हो सकता है?

साधारण लोगों की कल्पना में भक्त वह है, जो भगवान की भक्ति में बावला हो जाता है, माला हाथ में लेकर भगवान का नाम जपता है, सेवा का काम करने से भी जिसके माला फेरने में बाधा पड़ती है, इसलिए जो खान-पान वगैरा भोग भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है-चक्की चलाने के लिए या बीमार की सेवा-चाकरी करने के लिए कभी नहीं छोड़ता।

ऐसे ज्ञानियों और ऐसे भक्तों को गीता ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है: "कर्म के बिना किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। जनक आदि भी कर्म के द्वारा ज्ञानी बने। यदि मैं भी आलस्य-रहित होकर कर्म न किया करूं तो इन सारे लोकों का नाश हो जाये।" तब फिर सामान्य लोगों के बारे में तो पूछना ही क्या?

परन्तु एक ओर यह निर्विवाद है कि कर्ममात्र बन्धन-रूप है। दूसरी ओर देहधारी मानव इच्छा या अनिच्छा से भी कर्म किया करता है। शरीर या मन की प्रत्येक चेष्टा कर्म है। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धन से मुक्त कैसे रह सकता है? जहां तक मैं जानता हूं, इस समस्या का निराकरण जैसा गीताजी ने किया है वैसा अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ ने नहीं किया है। गीता कहती है:

'फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो,' 'आशा रहित होकर कर्म करो,' 'निष्काम बनकर कर्म करो।' यह गीता की ऐसी ध्वनि है, जो भूली नहीं जा सकती। जो मनुष्य कर्म को छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसके फल को छोड़ता है वह ऊंचा उठता है।

फलत्याग का अर्थ कर्म के परिणाम के विषय में लापरवाह रहना नहीं है। परिणाम का और साधन का विचार करना तथा दोनों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना करने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी कहा जाता है।

परन्तु यहां फलत्याग का कोई ऐसा भी अर्थ न करे कि त्यागी को कर्म का फल नहीं मिलता। गीता में ऐसे अर्थ के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है। फलत्याग का अर्थ है फल के विषय में आसक्ति का अभाव। वास्तव में फल का त्याग करनेवाले को हजार गुना फल मिलता है। गीता के फलत्याग में तो मनुष्य की अनन्त श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान किया करता है, वह अधिकतर कर्म-कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है। वह अधीर बन जाता है, इसलिए क्रोध के वश हो जाता है, और बाद में वह न करने योग्य काम करने लगता है। एक कर्म से वह दूसरे कर्म में और दूसरे से तीसरे कर्म में उलझता रहता है। कर्म के परिणाम का चिन्तन करनेवाले मनुष्य की स्थिति विषय से अन्धे हुए मनुष्य के समान हो जाती है; और अन्त में वह विषयी मनुष्य की तरह भले-बुरे का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है तथा फल पाने के लिए चाहे जैसे साधनों का उपयोग करता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के ऐसे कड़वे परिणामों से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफल के त्याग का सिद्धान्त निकाला है और उसे दुनिया के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रखा है।

सामान्यत: यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ परस्पर-विरोधी हैं। ''व्यापार आदि सांसारिक व्यवहारों में धर्म का पालन नहीं हो सकता, धर्म के लिए स्थान नहीं हो सकता; धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए ही किया जा सकता है। धर्म के स्थान पर धर्म शोभा देता है; अर्थ के स्थान पर अर्थ शोभा देता है।'' मैं मानता हूं कि गीताकार ने इस भ्रम को दूर कर दिया है। उन्होंने मोक्ष और सांसारिक व्यवहार के बीच ऐसा कोई भेद नहीं रखा है; परन्तु धर्म को व्यवहार में उतारा है। जो धर्म व्यवहार में नहीं उतारा जा सकता वह धर्म

ही नहीं है–यह बात गीता में कही गई है, ऐसा मुझे लगा है। अतः गीता के मत के अनुसार जो कर्म आसक्ति के बिना हो ही न सकें वे सब त्याज्य हैं–छोड़ देने योग्य हैं। यह स्वर्ण–नियम मनुष्य को अनेक धर्म–संकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार हत्या, झूठ, व्यभिचार आदि कर्म स्वभाव से ही त्याज्य हो जाते हैं। इससे मनुष्य–जीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शान्ति का जन्म होता है।

इस विचारसरणी का अनुसरण करते हुए मुझे ऐसा लगा है कि गीताजी की शिक्षा का आचरण करनेवाले मनुष्य को स्वभाव से ही सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति के अभाव में न तो मनुष्य को झूठ बोलने का लालच होता है और न हिंसा करने का लालच होता है। हिंसा या असत्य के किसी भी कार्य का हम विचार करें, तो पता चलेगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती ही है।

लेकिन अहिंसा का प्रतिपादन करना गीता का विषय नहीं है, क्योंकि गीता के समय से पहले भी अहिंसा परमधर्म मानी जाती थी। गीता को तो अनासक्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित करना है। गीता के दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परन्तु यदि गीता को अहिंसा स्वीकार्य थी अथवा अनासक्ति में अहिंसा सहज रूप से आ ही जाती हो, तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया? इसका उत्तर यह है कि गीता–युग में अहिंसा धर्म मानी जाती थी, फिर भी उस काल में भौतिक युद्ध सर्व–सामान्य वस्तु था; इसलिए गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेने में कोई संकोच नहीं हुआ, न ही हो सकता था।

परन्तु फलत्याग के महत्व का अन्दाज लगाते समय गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहां बांधी थी, इसका विचार करने की हमें जरूरत नहीं रह जाती। कवि महत्वपूर्ण सिद्धान्त दुनिया के सामने रखता है, इसलिए वह अपने दिये हुए सिद्धान्तों का महत्व सदा पूरी तरह जानता ही है, अथवा जानने के बाद उसे पूर्णतया भाषा में प्रकट कर सकता है, ऐसा नहीं होता। इसी में काव्य की और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का तो कोई अन्त ही नहीं है।

जिस प्रकार मनुष्य का विकास होता रहता है, उसी प्रकार महावाक्यों के

अर्थ का भी विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास की जांच करें तो हम देखते हैं कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ सदा बदलते या विस्तृत होते रहे हैं। यही बात गीता के अर्थ के विषय में भी सच है। गीताकार ने स्वयं महान् रूढ़ शब्दों के अर्थों का विस्तार किया है। गीता की ऊपर-ऊपर से जांच करने पर भी हम यह देख सकते हैं।

गीता-युग से पहले यज्ञ में पशुओं की हिंसा शायद मान्य समझी जाती होगी। परन्तु गीता के यज्ञ में उसकी गन्ध तक नहीं आती। गीता में तो जपयज्ञ को सब यज्ञों का राजा कहा गया है। गीता का तीसरा अध्याय कहता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्यत: परोपकार के लिए शरीर का उपयोग। तीसरे और चौथे अध्याय को एक-साथ पढ़ने से यज्ञ की दूसरी व्याख्याएं भी निकाली जा सकती हैं। परन्तु पशु हिंसा का अर्थ कभी नहीं निकाला जा सकता।

गीता के संन्यास शब्द के अर्थ के विषय में भी यही बांत है। कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को सह्य ही नहीं है। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है, और फिर भी अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकार ने महान शब्दों के व्यापक अर्थ करके स्वयं उनकी अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करने की बात हमें सिखाई है। कर्म के फल का सम्पूर्ण त्याग करनेवाले मनुष्य के द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, ऐसा अर्थ गीताकार की भाषा के अक्षरों-शब्दों से भले ही निकलता हो; परन्तु गीता की शिक्षा को पूर्ण रूप से व्यवहार में लाने का लगभग 40 वर्ष तक सतत प्रयत्न करते-करते मुझे तो नम्र भाव से ऐसा लगा है कि सत्य और अहिंसा के सम्पूर्ण पालन के बिना कर्म के फल का सम्पूर्ण त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।

गीता कोई सूत्र-ग्रन्थ नहीं है। गीता एक महान धर्मकाव्य है। हम उसमें जितने गहरे उतरेंगे उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ हमें मिलेंगे। गीता जन-समाज के लिए है, इसलिए उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा गया है। गीता में आये हुए महान् शब्दों के अर्थ प्रत्येक युग में बदलेंगे और व्यापक बनेंगे। परन्तु गीता का मूल-मन्त्र कभी नहीं बदलेगा। यह मन्त्र जिस रीति से जीवन में साधा जा सके उस रीति को दृष्टि में रखकर जिज्ञासु गीता के महाशब्दों का मनचाहा अर्थ कर सकता है।

गीता विधि-निषेध (करने योग्य और न करने योग्य कर्म) बतानेवाला संग्रह-ग्रन्थ भी नहीं है। एक मनुष्य के लिए जो कर्म विहित (करने योग्य)

हो, वह दूसरे के लिए निषिद्ध (न करने योग्य) हो सकता है। एक काल या एक देश में जो कर्म विहित हो, वह दूसरे काल या दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। अतः निषिद्ध केवल फलासक्ति है; और विहित अनासक्ति है।

गीता में ज्ञान की महिमा गाई गई है। फिर भी गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है। इसलिए वह अश्रद्धालु मनुष्य के लिए नहीं है। गीताकार ने स्वयं ही कहा है:

"जो मनुष्य तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनने की इच्छा नहीं रखता और जो मुझसे द्वेष करता है, उसे तू यह (ज्ञान) कभी न कहना। परन्तु जो मनुष्य यह परमगुह्य ज्ञान मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी परम भक्ति करने के कारण बिना किसी सन्देह के मुझे प्राप्त करेगा। इसके सिवा, जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धा के साथ इस ज्ञान को केवल सुनेगा, वह भी मुक्त होकर जहां पुण्यवान लोग बसते हैं उस शुभलोक को प्राप्त करेगा।" (अध्याय 18: श्लोक 67, 68, 71)



29

# भक्तियोग

मैं तो अपनी सारी कठिनाइयों में गीता-माता के पास दौड़ता हूं और अब तक आश्वासन पाता आया हूं। दूसरों को भी, जो उसमें से आश्वासन पाने के इच्छुक हैं, शायद, जिस रीति से मैं उसे रोज-रोज समझता जाता हूं, वह रीति जानकर कुछ अधिक मदद मिले। उस रीति को जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असम्भव नहीं है।

आज तो बारहवें अध्याय का सार देना चाहता हूं। यह भक्तियोग है। विवाह के अवसर पर दम्पती को पांच यज्ञों में इसे भी एक यज्ञ रूप से कंठ करके मनन करने को हम कहते हैं। बिना भक्ति के ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बन्धन रूप हो जाने की सम्भावना है। इसलिए भक्तिभाव से 'गीता' का यह मनन आरम्भ करना चाहिए।

अर्जुन ने भगवान से पूछा : साकार और निराकार को पूजनेवाले भक्तों में अधिक श्रेष्ठ कौन है?

भगवान ने उत्तर दिया : जो मेरे साकार रूप का श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं। पर जो निराकार तत्त्व को भजते हैं और उसे भजने के लिए समस्त इन्द्रियों का संयम करते हैं, सब जीवों के प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किसी को ऊंच-नीच नहीं गिनते, वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि दोनों में अमुक श्रेष्ठ है; पर निराकार की भक्ति शरीरधारी द्वारा सम्पूर्ण रूप से होना अशक्य माना जाता

---

4.11.1930, पृष्ठ 273-274, खंड-44, पृष्ठ 131-132, खंड-49 गांधी वाङ्मय

है, निराकार निर्गुण है, अतः मनुष्य की कल्पना से परे है। अतः सब देहधारी जाने-अनजाने साकार के ही भक्त हैं। इसलिए तू तो मेरे साकार विश्वरूप में ही अपना मन लगा। सब उसे सौंप दे। यह न कर सकता हो तो चित्त के विकारों को रोकने का अभ्यास कर, यानी यम-नियम आदि का पालन करके प्राणायाम, आसन, आदि की मदद लेकर मन को वश में कर। ऐसा भी न कर सकता हो, तो जो कुछ करता है सो मेरे ही लिए करता है, इस धारणा से अपने सब काम करेगा, तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायेगी और त्यों-त्यों तू निर्मल-शुद्ध होता जायेगा और तुझमें भक्तिरस आ जायेगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्म मात्र के फल का त्याग कर दे, यानी फल की इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्से जो काम आ पड़े, उसे करता रह। फल का मालिक मनुष्य हो ही नहीं सकता। बहुतेरी बातों के एकत्र होने पर फल निकलता है, अतः तू तो केवल निमित्त-मात्र हो जा। जो चार रीतियां मैंने बताई हैं, उनमें किसी को कम ज्यादा मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो, उससे तू भक्ति का रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम, प्राणायाम, आसन, आदि का मार्ग बता आये हैं, उसकी अपेक्षा श्रवण-मनन आदि का ज्ञान-मार्ग सरल है। उसकी अपेक्षा उपासनारूप ध्यान सरल है और ध्यान की अपेक्षा कर्मफल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही वस्तु समान भाव से सरल नहीं होती और किसी-किसी को सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक-दूसरे के साथ मिले-जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्ग से हो, तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्ग से भक्ति सधे, उसी मार्ग से उसे साध।

मैं तुझे भक्त के लक्षण बताता हूं: भक्त किसी से द्वेष न करे, किसी के प्रति वैर-भाव न रखे, जीवमात्र से मैत्री रखे, जीवमात्र के प्रति करुणा का अभ्यास करे, ऐसा करने के लिए ममता छोड़े, अपने को मिटाकर शून्यवत् हो जाये, दुःख-सुख को समान माने। कोई द्वेष करे, तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषों के लिए वह संसार से क्षमा का भूखा है) सन्तोषी रहे, अपने शुभ निश्चयों से कभी विचलित न हो। मन-बुद्धिसहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। लोगों को उससे उद्वेग नहीं होना चाहिए, न उससे लोग डरें; वह स्वयं लोगों से न दुःख माने, न डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय, आदि से मुक्त होता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरम्भ को त्यागे हुए होता है। निश्चय में दृढ़ होते हुए भी

शुभ और अशुभ परिणाम, दोनों का वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारे में निश्चिन्त रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन? उसे मान क्या, अपमान क्या? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाये, उससे सन्तोष रखकर एकाकी की भांति विचरता हुआ सब स्थितियों में स्थिर होकर रहता है। इस भांति श्रद्धालु होकर चलनेवाला मेरा प्रिय भक्त है।



# गीतावाचक

'हरिजन' के पाठक जानते हैं कि मेरे लिए 'गीता' का क्या महत्त्व है। मैं 'गीता' जैसे ग्रन्थों को कंठस्थ करना सदा से अत्यन्त वांछनीय मानता आया हूं। पर मैं स्वयं अनेक बार के प्रयत्नों के बाद भी 'गीता' के सभी अध्यायों को कंठस्थ नहीं कर पाया हूं। मैं जानता हूं कि रटकर याद करने के मामले में मैं बहुत ही कच्चा हूं। इसलिए मुझे जब भी कोई ऐसा व्यक्ति मिलता है जिसे 'गीता' कंठस्थ हो तो उसके लिए मेरे मन में सम्मान जाग उठता है। तमिलनाडु के दौरे में ऐसे दो व्यक्तियों से मेरी मुलाकात हो चुकी है–मदुरा में एक सज्जन थे और देवकोट्टा में एक महिला। मदुरा के सज्जन एक व्यापारी हैं और उनकी कोई ख्याति नहीं है; और महिला का नाम है पार्वतीबाई, जो न्यायमूर्त्ति सदाशिव अय्यर की पुत्री हैं। श्री अय्यर ने अपने जीवन-काल में ही 'गीता' कंठस्थ करनेवाले सर्वश्रेष्ठ गीतावाचक को प्रतिवर्ष एक पुरस्कार देने की व्यवस्था की थी। पर मैं चाहूंगा कि ऐसे वाचक लोगों को यह प्रतीति भी होनी चाहिए कि मात्र वाचन अपने-आप में ही उद्देश्य नहीं है। वाचन तो 'गीता' के सन्देश और उसके अर्थ का मनन करने और उसे हृदयंगम करने के एक साधन के रूप में ही लिया जाना चाहिए। लगातार अभ्यास कराया जाये तो एक तोता भी 'गीता' को रटकर सुना सकता है। परन्तु ऐसा पाठ करने से तोता तो तोता ही रहेगा, उसमें कुछ अधिक ज्ञान तो नहीं उपजेगा। गीतावाचक को, गीताकार की अपेक्षा के अनुसार, व्यापक अर्थ में एक योगी होना चाहिए। गीता की अपेक्षा है कि

---

2.2.1934, पृष्ठ 100-101, खंड-57, गांधी वाङ्मय

उसके अनुयायी अपने मन, वचन और कर्म से संतुलित रहें और इन तीनों के बीच पूर्ण सामंजस्य हो। जिसके वचन और कर्म उसके विचारों के अनुरूप नहीं, वह व्यक्ति या तो वंचक होगा या पाखंडी।



31

## भाषण : हरिजन आश्रम, अहमदाबाद में

मैं तो 'गीता' का भक्त हूं और कर्म के अटल सिद्धान्त में मेरा पक्का विश्वास है। छोटी से छोटी बात भी बिना किसी कारण के नहीं होती। मैं समझ नहीं पाता कि जिसने मन, वचन और कर्म से 'गीता' का अनुसरण करने की चेष्टा की है उसे कोई बीमारी क्यों होनी चाहिए? डाक्टरों का कहना है कि खून के भारी दबाव की यह गड़बड़ सिर्फ मानसिक श्रम और चिन्ता का ही परिणाम है। अगर यह बात सही है, तो सम्भवत: मैं अनावश्यक रूप से चिन्ताएं मोल लेता रहा हूं, अनावश्यक रूप से व्याकुल रहा हूं और गुप्त रूप से काम, क्रोध, आदि विषयों को मैंने आश्रय दिया है। लेकिन मेरे भारी प्रयत्न के बाबजूद किसी बात या घटना से मेरे मन की शान्ति यदि भंग हो जाये तो उसका मतलब यह नहीं कि 'गीता' के आदर्श में कोई दोष है, बल्कि समझना यह चाहिए कि मेरी श्रद्धा में ही कोई न कोई कमी है। 'गीता' का आदर्श तो सदा-सर्वदा के लिए सत्य है, अलबत्ता मेरे उसे समझने और उसका पालन करने में गलतियां हो सकती हैं।

---

29.2.1936, पृष्ठ 204-205, खंड-62, गांधी वाङ्मय



32

# अहिंसा

जब कोई मनुष्य यह कहता है कि मैं अहिंसापरायण हूं, तब उससे यह आशा की जाती है कि यदि उसे कोई हानि पहुंचाये तो वह उसपर क्रोध न करे, उसका नुकसान न चाहे; बल्कि उसकी भलाई ही चाहे न वह उसके प्रति अनर्गल प्रलाप करेगा और न उसे किसी तरह की शारीरिक चोट ही पहुंचायेगा। वह तो अन्यायकर्त्ता द्वारा किये गये अपने हर तरह के नुकसान को सहन ही करेगा। इस तरह अहिंसा पूर्ण निर्दोषिता की अवस्था है; और पूर्ण अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव। इसलिए अहिंसा में मनुष्य से नीचे की कोटि के प्राणियों, यहां तक कि हानिकर कीड़े-मकोड़ों और पशुओं का भी समावेश है। उनकी सृष्टि हमारी विनाशक प्रवृत्तियों का पोषण करते रहने के लिए नहीं हुई है। यदि हम सृष्टिकर्त्ता के हेतु को समझ पाते तो हमें इस बात का पता लग जाता कि उसकी सृष्टि में उन जीवों का उचित स्थान क्या है। अतएव अहिंसा का क्रियात्मक रूप क्या है? प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव। यही शुद्ध प्रेम है। क्या हिन्दू शास्त्र, क्या 'बाइबिल' और क्या 'कुरान', सब जगह मुझे तो यही दिखाई पड़ा है।

अहिंसा एक पूर्ण स्थिति है। सारी मनुष्य-जाति इसी एक लक्ष्य की ओर स्वभावत: परन्तु अनजाने बढ़ रही है। मनुष्य जब अपने तईं निर्दोषिता की साक्षात् मूर्ति बन जाता है तब वह कुछ दैवी पुरुष नहीं हो जाता। उसी अवस्था में वह सच्चा मनुष्य बनता है। आज की अवस्था में तो हम कुछ अंशों में मनुष्य और

---

9.3.1922, पृष्ठ 23-24, खंड-23, गांधी वाङ्मय

कुछ अंशों में पशु हैं। हम घूंसे के बदले घूंसा जमाते हैं; ऐसा करते हुए दांत पीसते हैं और ऊपर से अपने दर्प और अज्ञान के वशीभूत होकर इसे मनुष्य जाति के अस्तित्व को सचमुच सार्थक बनाना तक कह डालते हैं। हम ढोंग रचते हैं कि प्रतिहिंसा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और हमारा इसके बिना काम ही नहीं चल सकता। परन्तु इसके विपरीत धर्मग्रन्थों में तो हम यह पाते हैं कि प्रतिहिंसा को कहीं भी अनिवार्य कर्त्तव्य नहीं माना गया है; उसके लिए केवल छूट-भर दी है। अनिवार्य कर्त्तव्य तो संयम है। प्रतिहिंसा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें न जाने कितने नियमों और उपनियमों के पालन करने का ध्यान रखना पड़ता है। और संयम तो हमारे जीवन की सहज-सरल गति है। बिना बूर्ण संयम के मनुष्य पूर्णावस्था को पहुंच ही नहीं सकता। इस प्रकार सहनशीलता-संयम ही मनुष्य-जाति का विशेष धर्म है।

लक्ष्य तो हमेशा आगे-ही-आगे खिसकता रहता है। ज्यों-ज्यों हमें अपनी अयोग्यता का अधिकाधिक आभास होता है। सन्तोष तो प्रयत्न में है, अभीष्ट सिद्धि में नहीं। पूर्ण प्रयत्न ही पूर्ण विजय है।



33

## हिन्दू भी विमुख

चूंकि मैं पूर्ण अहिंसा में विश्वास रखता हूं और उसकी हिमायत करता हूं इसलिए कुछ लोगों ने तो मुझे हिन्दू मानने तक से इनकार कर दिया है। उनका कहना है कि मैं प्रच्छन्न ईसाई हूं। मुझसे बड़े असंदिग्ध स्वर में कहा गया है कि 'भगवद्गीता' का यह अर्थ करना कि उसमें विशुद्ध अहिंसा धर्म का उपदेश किया गया है, 'गीता' के अर्थ का अनर्थ करना ही है। मेरे कुछ हिन्दू भाई मुझसे कहते हैं कि अमुक परिस्थिति में 'भगवद्गीता' ने हिंसा को धर्म बताया है। अभी हाल में ही एक उद्भट विद्वान सज्जन ने 'गीता' की मेरी व्याख्या पर नाक-भौंह सिकोड़ते हुए कहा कि 'गीता' के बारे में कुछ टीकाकारों के इस मत का कोई उचित आधार नहीं है कि 'गीता' में दैवी और आसुरी शक्तियों के बीच होनेवाले सनातन संघर्ष का चित्रण है और तनिक भी संकोच या दुर्बलता दिखाये बिना अपने आन्तरिक कश्मल को दूर कर देना हमारा कर्त्तव्य बताया गया है।

अहिंसा के खिलाफ इन तमाम विचारों को इतने विस्तार से देने का प्रयोजन यह है कि साम्प्रदायिक समस्या का जो समाधान मैं बताने जा रहा हूं, लोग अगर उसे समझना चाहते हैं तो इन विचारों को हृदयंगम कर लेना जरूरी है।

मैं आज अपने चारों ओर जो कुछ देख रहा हूं, वह तो अहिंसा-प्रसार के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया ही है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि हिंसा की एक जबरदस्त लहर उठी चली आ रही है। हिन्दू-मुस्लिम तनाव अहिंसा के प्रति

---

29.5.1924, पृष्ठ 142-144, खंड-24, गांधी वाङ्मय

अरुचि का उग्र रूप है।

इस सवाल का विचार करते समय मेरा खयाल ही न रखा जाये। मेरा धर्म तो मेरे और मेरे सिरजनहार के बीच की बात है। अगर मैं हिन्दू हूं तो सारे हिन्दू समाज के द्वारा बहिष्कृत हो जाने पर भी मैं हिन्दू ही बना रहूंगा। इतना तो मैं कहता ही रहूंगा कि धर्मों का पर्यवसान अहिंसा में है।

परन्तु मैंने लोगों के सामने अहिंसा के परमरूप को कभी रखा ही नहीं- भले ही इसका कारण केवल इतना ही हो कि मैं अपने-आपको इस योग्य नहीं मानता कि उस प्राचीन सन्देश को संसार के समक्ष रखूं। यद्यपि बुद्धि के धरातल पर मैंने अहिंसा के उस परम स्वरूप को पूरी तरह समझ लिया है और ग्रहण कर लिया है, लेकिन वह अभी मेरे रोम-रोम में भिदा नहीं है। मेरी शक्ति का आधार इतना ही है कि जिस बात को मैंने खुद अपने जीवन में बार-बार आजमा कर नहीं देख लिया है उपपर आचरण करने के लिए दूसरों से नहीं कहता। तो मैं आज अपने देश भाइयों से अनुरोध करता हूं कि वे सिर्फ दो उद्देश्यों के लिए अहिंसा को अपने अन्तिम धर्म के रूप में अपना लें-एक तो विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए और दूसरे, स्वराज्य प्राप्त करने के लिए। हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों और पारसियों को अपने आपसी मतभेदों के निबटारे के लिए हिंसा का सहारा नहीं लेना चाहिए; और हमें स्वराज्य अहिंसात्मक तरीके से प्राप्त करना चाहिए। इसे मैं भारत के सामने कमजोरों के हथियार के तौर पर नहीं, बल्कि बलवानों के हथियार के तौर पर पेश करने की हिम्मत करता हूं। धर्म के मामले में जोर-जबरदस्ती न हो, इसके बारे में हिन्दू और मुसलमान दोनों बातें तो बहुत करते हैं, लेकिन कोई हिन्दू एक गाय की जान बचाने के लिए अ़गर किसी मुसलमान की जान ले ले तो इसे जबरदस्ती नहीं तो और क्या कहेंगे? यह तो किसी मुसलमान को जबरन हिन्दू बनाने की कोशिश करना ही हुआ। उसी तरह अगर मुसलमान हिन्दुओं को मसजिद के सामने गाने-बजाने से जबरदस्ती रोकने की कोशिश करें तो यह भी जबरदस्ती नहीं तो और क्या है? खूबी तो इस बात में है कि शोरगुल के बावजूद आदमी परमात्मा की प्रार्थना में तल्लीन हो जाये। दूसरे लोग हमारी धार्मिक भावनाओं का खयाल रखें, इसके लिए अ़गर हम जोर-जबरदस्ती करेंगे तो भावी पीढ़ियां हमें अधर्मी और जंगली ही मानेंगी। फिर तीस करोड़ संख्यावाले राष्ट्र का सिर्फ एक लाख अंग्रेजों को होश में लाने के लिए हिंसा

करने पर मजबूर हो जाना शर्म की बात है। उन लोगों के हृदय-परिवर्तन करने या अगर आपकी मर्जी उन्हें इस देश से निकाल देने की ही हो तो हमें इसके लिए शस्त्रबल की नहीं, मनोबल की जरूरत है। अगर हममें यह मनोबल नहीं होगा तो हम शस्त्रबल भी नहीं जुटा पायेंगे और जब हममें मनोबल आ जायेगा तो हम देखेंगे कि शस्त्रबल की हमें जरूरत ही नहीं है।

इस तरह उपर्युक्त उद्देश्यों के लिए अहिंसा-धर्म को स्वीकार कर लेना हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए सबसे अधिक स्वाभाविक और परम आवश्यक शर्त है। इसके जरिये हम अपने समाज के संयुक्त शरीरबल को अपेक्षाकृत अच्छे कामों में लगाना सीखेंगे। आज तो हम उसे भाई-भाई की निरर्थक लड़ाई में, जिसमें दोनों ही दल बिलकुल टूट जाते हैं, नष्ट किये जा रहे हैं। इसके अलावा, जब तक सम्पूर्ण राष्ट्र का समर्थन प्राप्त न हो, हर शस्त्र-विद्रोह पागलपन ही है और अगर राष्ट्र का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त हो तो असहयोग कार्यक्रम का कोई भी अंग एक बूंद खून बहाये बिना हमें अपने उद्देश्य तक पहुंचा सकता है।



# 34

## शुद्धि नहीं हो सकती

विलायती अखबारों की कतरनों से मिलनेवाली अनेक खुशखबरों में से एक यह भी है कि कुमारी स्लेड ने, जिन्हें आश्रम में मीराबाई कहते हैं, हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया है। मैं कहना चाहता हूं कि उन्होंने ऐसा नहीं किया है। मुझे आशा है कि चार साल पहले, जब वह आश्रम आई थीं, तबसे आज वह अधिक अच्छी और सच्ची ईसाई हैं। वह कोई कच्ची उम्र की बालिका तो हैं नहीं। उनकी उम्र तीस साल से भी ज्यादा है और वह अकेली ही मिस्र, फारस तथा यूरोप में वहां के वृक्षों और पशुओं से स्नेह सम्बन्ध स्थापित करती हुई घूम चुकी हैं। मुझे अपनी देखरेख में कम उम्र के मुसलमान, पारसी और ईसाई स्त्री-पुरुषों को रखने का सौभाग्य मिला है। इस बीच हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लेने के लिए उनसे कभी नहीं कहा गया। उन्हें अपने ही धर्मग्रन्थों को पढ़ने और उनका आदर करने के लिए प्रोत्साहित किया गया, प्रेरणा दी गई। आज भी मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने उन साथी, स्त्री-पुरुषों, बालक और बालिकाओं के उदाहरण दे सकता हूं, जिन्हें अपने धर्मो से पहले की अपेक्षा अधिक प्रेम करना और उन्हें भली-भांति समझना सिखाया गया था और साथ ही जिन्हें दूसरे धर्मों का अभ्यास करने और उनके प्रति सहानुभूति तथा आदर रखने की शिक्षा दी गई थी। आज भी आश्रम में कई धर्मो के प्रतिनिधि रहते हैं। किसी भी तरह की शुद्धि न तो की जाती है, न उसकी अनुमति दी जाती है। हम यह मानते हैं कि ये सब धर्म सच्चे और दैवी प्रेरणा के फल हैं, लेकिन चूंकि उनका पालन अपूर्ण

---

20.2.1930, पृष्ठ 507, खंड-42, गांधी वाङ्मय

मनुष्यों द्वारा अपूर्ण मनुष्य ही कराते थे, उनमें कई बुराइयां पैदा हो गई हैं। कुमारी स्लेड का नाम हिन्दू नहीं, हिन्दुस्तानी है। यह नाम उन्हीं के कहने से और सुविधा के खयाल से रखा गया है।



35

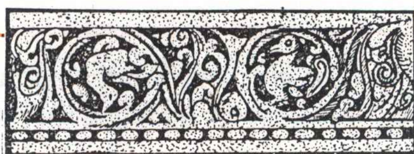
## एक ईसाई का पत्र

हिन्दू-धर्म में ईसा के लिए भी स्थान है, उससे तो मैं और भी आश्वस्त भाव से अपनी सहमति प्रकट करते हुए यह कह सकता हूं कि हां, ईसा के लिए इस धर्म में पर्याप्त स्थान है–ठीक उसी तरह जैसे मुहम्मद, जरथुश्त और मूसा के लिए है। मेरी दृष्टि में विभिन्न धर्म एक बगीचे में खिले सुन्दर फूलों के समान या एक ही विशाल वृक्ष की अलग-अलग शाखाओं की तरह हैं। इसलिए वे सब-के-सब समान रूप से सत्यमय हैं, और चूंकि वे हमें मानवों के माध्यम से प्राप्त हुए हैं और हमारे लिए उनकी व्याख्या भी मानव ने ही की है, इसलिए वे सब अपूर्ण भी समान रूप से हैं। भारत में तथा अन्यत्र जिस ढंग से लोगों का धर्मान्तरण किया जा रहा है, उसे किसी भी तरह से उचित मान सकना मेरे लिए असम्भव है। यह हमारी एक ऐसी भूल है जो संसार के शान्ति-पथ पर अग्रसर होने में शायद सबसे अधिक बाधक है। "परस्पर युद्धरत धर्म", ऐसे शब्दों का प्रयोग करना अपने-आप में धर्म की निन्दा करना है। लेकिन आज भारत में, जिसे मैं धर्म या धर्मों की जननी मानता हूं, जो स्थिति विद्यमान है उसका वर्णन करने के लिए इन शब्दों का प्रयोग सबसे उपयुक्त रहेगा। यदि वह सचमुच धर्मों की जननी है, माता है, तो आज उसका मातृत्व कसौटी पर है। कोई ईसाई किसी हिन्दू को ईसाई बनाना क्यों चाहे या कोई हिन्दू किसी ईसाई को हिन्दू बनाना क्यों चाहे? यदि हिन्दू नेक हिन्दू है और ईश्वरपरायण है, तो इतने से उसको सन्तुष्ट क्यों नहीं रहना चाहिए? यदि मनुष्य के शील और

---

30.1.1937, पृष्ठ 364, खंड-64, गांधी वाङ्मय

नैतिकता का कोई महत्त्व नहीं है, तो किसी गिरजाघर या मसजिद अथवा मन्दिर में किसी पद्धति विशेष से पूजा करने की बात भी एक थोथी रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बल्कि सम्भव है कि यह व्यक्ति या समाज के विकास में बाधक ही हो। किसी विशेष पद्धति पर आग्रह रखना या किसी धार्मिक मान्यता को बार-बार दोहराना ऐसे उग्र झगड़ों का प्रबल कारण बन सकता है जिनसे अन्त में भीषण रक्तपात मच जाये और फलतः धर्म से अथात् ईश्वर से ही लोगों का विश्वास बिलकुल उठ जाये।



36

## चर्चा : सी. एफ. एन्ड्रयूज के साथ

**सी. एफ. ए. :** मान लीजिए कोई खूब सोचने-विचारने और मार्ग-दर्शन के लिए प्रभु से प्रार्थना करने के बाद कहता है कि ईसाई बने बिना मेरी शान्ति और मुक्ति नहीं है तो आप उससे क्या कहेंगे?

**गां. :** अगर कोई गैर-ईसाई या, मान लीजिए, हिन्दू किसी ईसाई के पास जाकर ऐसी बात कहता है तो मैं कहूंगा कि उससे उसे अपना कल्याण धर्म-परिवर्तन में खोजने के बजाय एक अच्छा हिन्दू बनने को कहना चाहिए।

**सी. एफ. ए.:** इस बात में मैं आपसे पूरी तरह सहमत नहीं हो सकता, हालांकि आप मेरी स्थिति जानते ही हैं। इस बात को तो मैं कब का छोड़ चुका हूं कि ईसा की शरण लिए बिना मनुष्य की मुक्ति नहीं है। लेकिन मान लीजिए, आक्सफोर्ड ग्रुप मूवमेंट के सदस्य आपके पुत्र का जीवन बदल देते हैं और वह यह महसूस करता है कि उसे ईसाई बन जाना चाहिए तो इस विषय में आप क्या कहेंगे?

**गां. :** मैं तो यह कहूंगा कि आक्सफोर्ड ग्रुप जीवन चाहे जितनों का बदल दें, लेकिन उन्हें किसी का धर्म नहीं बदलना चाहिए। वे उन लोगों के अपने-अपने धर्मों के सर्वोत्तम तत्त्वों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करके उनसे उनके अनुसार जीने को कह सकते हैं। एक दिन एक आदमी मेरे पास आया। उसके माता पिता ब्राह्मण थे। उसने मुझसे कहा कि आपकी [एन्ड्रयूज की] पुस्तक पढ़कर वह ईसाई-धर्म स्वीकार करने को प्रेरित हुआ। मैंने उससे पूछा कि क्या

---

28.11.1936, पृष्ठ 21-24, खंड-64, गांधी वाङ्मय 64

वह अपने पूर्वजों के धर्म को गलत मानता है। उत्तर में उसने कहा, 'नहीं'। तब मैंने कहा: 'बाइबिल को संसार का एक श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ और ईसा मसीह को एक महान् धर्मगुरु मानने में क्या तुम्हें कोई अड़चन है?' मैंने उसे बताया कि आपने [एन्ड्रयूज ने] अपनी पुस्तकों में भारतीयों से बाइबिल को अपनांने और ईसाई धर्म को अंगीकार करने के लिए कहीं नहीं कहा है; और उसने आपकी पुस्तक का गलत अर्थ लगाया है। हां, अगर आपका विचार बुरे-से-बुरा जीवन जीनेवाले मुसलमान को भी अच्छे-से-अच्छे हिन्दू से बेहतर माननेवाले स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली के समान हो तो बात और है।

**सी. एफ. ए. :** मैं मौलाना मुहम्मद अली की राय को कतई स्वीकार नहीं करता। लेकिन यह जरूर कहता हूं कि अगर किसी को अपना धर्म बदलने की जरूरत सचमुच महसूस होती है तो मुझे उसके रास्ते में बाधा नहीं डालनी चाहिए।

**गां. :** लेकिन आप यह नहीं देखते कि आप उसे अपनी स्थिति पर दोबारा सोचने का मौका नहीं देते? आप उससे कुछ सवाल-जवाब तक नहीं करते। मान लीजिए कोई ईसाई मेरे पास आकर कहता है कि 'भागवत' पढ़कर तो वह मुग्ध हो गया है और इसलिए हिन्दू बन जाना चाहता है। उस हालत में मैं तो उससे यही कहूंगा, 'नहीं, भाई नहीं, जो कुछ 'भागवत' में है वह सब बाइबिल में भी है। बस अब तक तुमने उसे उसमें खोजने की कोशिश नहीं की है। कोशिश करो और अच्छे ईसाई बनो।'

**सी. एफ. ए. :** आपने जो कहा उसके विषय में मैं कोई राय नहीं दे सकता। मगर मुझसे तो कोई कहे कि वह अच्छा ईसाई बनना चाहता है तो मैं उससे यही कहूंगा कि 'तुम्हारी इच्छा है तो बन जाओ'; वैसे आप यह जानते ही हैं कि मैंने अपने पास धर्मान्तरण की तीव्र इच्छा लेकर आये लोगों को भी वैसा करने से मना किया है। मैंने उनसे कहा है, 'ठीक है, मगर मैं आपके ऐसा-कुछ करने में कारण-रूप नहीं बनूंगा।' लेकिन मानव स्वभाव ऐसा है कि मनुष्य को मन को पकड़नेवाले किसी ठोस धर्म की जरूरत होतीं है।

**गां. :** अगर कोई बाइबिल में विश्वास करना चाहता है तो करे, लेकिन वह अपना धर्म क्यों बदले? धर्म-प्रचार की इस प्रवृत्ति से संसार में शान्ति नहीं कायम होगी। धर्म बहुत ही निजी मामला है। हमें तो अपनी-अपनी समझ के अनुसार, जैसा ठीक लगे वैसा जीवन जीते हुए, एक-दूसरे के धर्मों की

अच्छाइयों का परस्पर आदान-प्रदान करना चाहिए और इस प्रकार ईश्वर के निकट पहुंचने के मनुष्य के प्रयत्न में अपनी-अपनी सामर्थ्य-भर योग देना चाहिए।

सोचकर देख लीजिए आप दो में से कौन-सी स्थिति स्वीकार करेंगे-यह कि सभी धर्मों के अनुयायी एक-दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता का रुख अपनाकर चलें अथवा यह कि वे सभी धर्मों को समान मानें? मेरी अपनी स्थिति तो यह है कि संसार के सभी धर्म तत्त्वत: समान हैं। हममें अपने ही धर्म की तरह दूसरों के धर्मों के प्रति भी सहज सम्मान का भाव होना चाहिए। ध्यान रखिए-पारस्परिक सहिष्णुता नहीं, बल्कि बराबर सम्मान का भाव।



# 37

## गाय

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि आजकल ईसाई मित्र अपने मुंह से तो ऐसा नहीं कहते या स्वीकार नहीं करते कि हिन्दू-धर्म झूठा धर्म है, तो भी उनके दिल में अब भी यही भाव जड़ जमाये हुए है कि हिन्दू-धर्म सच्चा धर्म नहीं है और ईसाई-धर्म ही-जैसा उन्होंने उसे समझ रखा है-एकमात्र सच्चा धर्म है। उनकी यह मनोवृत्ति उन उद्धरणों से प्रकट होती है जो मैंने कुछ समय पहले सी. एम. एस. की अपील में से 'हरिजन' में दिये थे। जब तक यह न मान लिया जाये कि उक्त अपील के पीछे यही मनोवृत्ति काम कर रही है तब तक उसकी कद्र करना तो दूर, उसे समझा भी नहीं जा सकता। हिन्दू-समाज में घुसी हुई छुआछूत या ऐसी ही अन्य भूलों पर अगर कोई प्रहार करे तो वह तो समझ में आ सकता है। अगर इन मानी हुई बुराइयों को दूर करने और हमारे धर्म की शुद्धि में वे हमारी सहायता करें तो यह एक ऐसा रचनात्मक कार्य होगा जिसकी बड़ी जरूरत है और उसे हम कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार भी करेंगे। पर आज जो प्रयास हो रहा है उससे तो यही दिखाई देता है कि यह तो हिन्दू-धर्म को जड़ मूल से उखाड़ फैंकने और उसके स्थान पर दूसरा धर्म कायम करने की तैयारी है। यह तो ऐसी बात है मानो किसी पुराने मकान को, जिसमें मरम्मत की बड़ी जरूरत है, पर जो रहनेवाले को अच्छा और काम देने लायक मालूम होता है, कोई जमीन में मिला देना चाहे। अगर कोई जाकर उस गृह-स्वामी को यह बताये कि उसमें क्या-क्या सुधार और मरम्मत करनी है, तो इसमें जरा भी

---

13.3.1937, पृष्ठ 485-486, खंड-64, गांधी वाङ्मय

आश्चर्य नहीं कि वह उनका स्वागत करेगा। पर अगर कोई उस मकान को ही गिराने लगे जिसमें वह और उसके पूर्वज पीढ़ियों से रहते आये हैं, तो वह जरूर ऐसा करनेवालों का प्रतिकार करेगा। हां, उसे खुद ही यह विश्वास हो जाये कि मरम्मत से काम नहीं चलेगा, वह आदमी के रहने लायक ही नहीं रहा, तो बात दूसरी है। सो अगर हिन्दू-धर्म के विषय में ईसाई-संसार का यही मत है, तो 'सर्व-धर्मसम्मेलन' और 'अन्तर्राष्ट्रीय विश्वबन्धुत्व' आदि शब्द निरर्थक हो जाते हैं। क्योंकि ये दोनों शब्द समानता के सूचक हैं और एक ऐसा मंच सूचित करते हैं जहां सब समान भाव से इकट्ठे हो सकते हैं। जहां ऐसी मान्यता हो कि कुछ धर्म ऊंचे हैं और कुछ नीचे, कुछ के पास ज्ञान का प्रकाश है और कुछ उससे वंचित हैं, कुछ सुसंस्कृत हैं और कुछ असंस्कृत, कुछ अभिजात हैंऔर कुछ कुजात, कुछ जाति में शामिल हैं और कुछ उससे बाहर, वहां सबके लिए सुलभ कोई एक मंच कैसे हो सकता है? मेरी तुलना भले ही सदोष हो, शायद अपमानजनक भी मालूम हो, मेरी युक्तियां भी चाहे निर्दोष न हों, पर मैं जो बात कह रहा हूं वह अकाट्य है।



38

## बातचीत : आर. आर. कीथन से

गांधीजी ने कहा था कि सभी धर्म न केवल सच्चे हैं, बल्कि समान भी हैं। उनके इस कथन का आशय श्री कीथन की समझ में नहीं आ रहा था। उनका विचार था कि शास्त्रीय दृष्टि से तो यह कहना ठीक नहीं है कि सभी धर्म समान हैं। इस तरह तो लोग प्रकृतिपूजकों और ईश्वरवादियों में भी तुलना करने लगेंगे। मैं तो कहूंगा कि धर्मों की तुलना करना व्यर्थ है। वे सभी धर्म ईश्वर को पाने के अलग-अलग रास्ते हैं। क्या आपके विचार से इस बात को हम किन्हीं और शब्दों में भी समझ सकते हैं।

**गांधीजी :** आपका यह कहना बिलकुल ठीक है कि धर्मों की तुलना करना सम्भव नहीं है। लेकिन इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि सभी धर्म समान हैं। सब लोग जन्म से स्वतन्त्र और समान होते हैं, लेकिन उनमें से कोई किसी दूसरे से शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से बहुत सबल या दुर्बल पाया जाता है। इसलिए सतही तौर पर दोनों में कोई समानता नहीं है। लेकिन एक तात्त्विक समानता अवश्य है। वह है हमारा नंगापन–हमारी आवरणहीनता की स्थिति। ईश्वर मुझे गांधी और आपको कीथन के रूप में थोड़े ही देखनेवाला है। और इस विराट विश्व में हम हैं ही क्या? हम तो परमाणुओं से भी तुच्छ हैं और परमाणुओं की ही तरह हमारे बारे में भी यह पूछना व्यर्थ है कि हममें से कौन छोटा है और कौन बड़ा। तत्त्वत: हम समान हैं। जाति और रंग, शरीर और मस्तिष्क तथा जलवायु और राष्ट्र के अन्तर क्षण-भंगुर हैं। इसी प्रकार सभी

13.3.1937, पृष्ठ 462-463, खंड-64, गांधी वाङ्मय

धर्म तत्त्वतः समान हैं। अगर आप 'कुरान' पढ़ें तो आपको उसे मुसलमानों की नजर से पढ़ना चाहिए, अगर 'बाइबिल' पढ़ें तो निश्चय ही ईसाई की दृष्टि से पढ़ें; और अगर 'गीता' पढ़ें तो हिन्दू की आंखों से पढ़ें। बाल की खाल खींचने और फिर किसी धर्म का उपहास करने का क्या प्रयोजन हो सकता है? आप जेनेसिस या मैथ्यू के पहले अध्याय को ही लें। उसमें हमें एक लम्बी वंशावली पढ़ने को मिलती है और अन्त में बताया जाता है कि ईसा का जन्म एक कुमारी से हुआ। यहां आकर हमारे सामने एक अंधेरी दीवार खड़ी हो जाती है, बात कुछ समझ में नहीं आती। मगर मुझे तो इस सबको एक ईसाई की निगाह से पढ़ना-समझना चाहिए।

**कीथन :** और फिर हमारी 'बाइबिल' में भी तो मूसा और ईसा का सवाल है। हमें क्या उन दोनों को समान मानना चाहिए?

**गांधीजी :** हां, क्योंकि सभी पैगम्बर समान हैं। यह तो बिलकुल एक समतल भूमि है।

**कीथन :** अगर हम आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद की दृष्टि से सोचें तो सब समान हैं। लेकिन इस समानता को मैं ठीक से व्यक्त नहीं कर सकता, ठीक से परिभाषित नहीं कर सकता।

**गांधीजी :** इसीलिए तो मैं कहता हूं कि सभी धर्म समान रूप से सत्य हैं, सभी में दोष भी समान रूप से विद्यमान हैं। आप जितनी अधिक सूक्ष्म रेखा खींचेंगे, वह यूक्लिड की सरल रेखा के उतनी ही अधिक निकट होगी, लेकिन वह कभी भी सच्ची सरल रेखा नहीं बन सकती। धर्म का वृक्ष तो एक ही है; हां, उसकी शाखाएं जड़ या स्थूल रूप से समान नहीं हैं। वे सब-की-सब विकासमान हैं, और जो व्यक्ति अधिक विकासमान शाखा पर बैठा हुआ है, उसे यह शेख़ी नहीं मारनी चाहिए कि 'देखो, यह मेरी शाखा दूसरी शाखाओं से श्रेष्ठ है।' कोई भी किसी की तुलना में श्रेष्ठ नहीं है, और न तुच्छ ही।



39

## भाषण : दलित वर्ग सम्मेलन, अहमदाबाद में

मैंने सदा ही सनातनी हिन्दू होने का दावा किया है। मुझे हिन्दू-धर्मशास्त्रों का बिलकुल ही ज्ञान न हो, सो बात नहीं है। मैं संस्कृत का कोई बड़ा पण्डित नहीं हूं। मैंने 'वेदों' और 'उपनिषदों' के केवल अनुवाद ही पढ़े हैं, इसलिए स्वभावत: इन ग्रन्थों का मेरा अध्ययन पाण्डित्यपूर्ण नहीं है। मुझे उनका जो ज्ञान है वह किसी प्रकार से गम्भीर नहीं कहा जा सकता, लेकिन एक हिन्दू को उनका जितना अध्ययन करना चाहिए वैसा मैंने कर लिया है और मेरा दावा है कि मैं उनके मर्म से परिचित हो गया हूं। 21 वर्ष का होते-होते तो मैं दूसरे धर्मों के ग्रंथों का अध्ययन भी कर चुका था।

एक समय था जब मैं हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म के बीच डगमगा रहा था। जब मेरा मानसिक सन्तुलन ठीक हुआ तब मैंने अनुभव किया कि मेरी मुक्ति तो हिन्दू-धर्म में रहकर ही सम्भव है और तबसे हिन्दू-धर्म में मेरी श्रद्धा अधिक गहरी और ज्ञानमय होती गई है।

लेकिन उन दिनों मेरा विश्वास था कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है और यदि वह उसका अंग है तो ऐसा हिन्दू-धर्म मेरे काम का नहीं।

यह सच है कि हिन्दू-धर्म में अस्पृश्यता पाप नहीं समझी जाती। मैं शास्त्रों की व्याख्या के सम्बन्ध में किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता। 'भागवत'

---

27.4.1921, पृष्ठ 578, खंड-19, गांधी वाङ्मय

या 'मनुस्मृति' से प्रमाण प्रस्तुत करके अपनी बात को सिद्ध करना शायद मेरे लिए कठिन भी हो। लेकिन मैं हिन्दू-धर्म के तत्त्व को समझ चुकने का दावा करता हूं। अस्पृश्यता की अनुमति देकर हिन्दू-धर्म ने पाप किया है। इससे हमारा पतन हुआ है और हम साम्राज्य में शूद्र-जैसे माने जाते हैं। हमसे यह छूत मुसलमानों को भी लग गई है और दक्षिण अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका और कनाडा में हिन्दुओं की तरह वे भी शूद्र माने जाने लगे हैं। यह सब दोष अस्पृश्यता के पाप से उत्पन्न हुए हैं।



40

## अस्पृश्यता का पाप

अस्पृश्यता का विधान धर्म में नहीं है। यह तो शैतान की एक चाल है। शैतान ने हमेशा शास्त्रों की दुहाई दी है। लेकिन शास्त्र सत्य और विवेक से बढ़कर नहीं हैं। वे विवेक को निर्मल बनाने और सत्य को उद्‌भासित करने के लिए ही रचे गये हैं। मैं किसी निर्दोष घोड़े को सिर्फ इसीलिए अग्नि में होमने के लिए तैयार नहीं हूं कि वेदों में इस बलिदान का विधान है। मेरे लिए 'वेद' दैबी और अपौरुषेय हैं। [जैसा कि 'बाइबिल' में कहा गया है,] 'शास्त्र के बचनों का अक्षरार्थ सत्य का हनन करता है।' जो चीज सत्य पर प्रकाश डालती है, वह तो उनमें निहित भावना ही है। और वेदों की असली भावना है शुचिता, सत्य, निर्दोषिता, पवित्रता, विनयशीलता, सरलता, क्षमा, भक्तिमत्ता और वह सब-कुछ जो किसी पुरुष अथवा स्त्री को उदार और बहादुर बनाता है। देश के इन महान् और मूक सेवकों, भंगियों को कुत्ते से भी हीन मानकर उनका तिरस्कार करने और उनपर थूकने में न तो कोई उदारता है और न बहादुरी।

---

19.1.1921, पृष्ठ 248-249, खंड-19, गांधी वाङ्मय



41

## भाषण : अस्पृश्यता पर, अकोला में

अस्पृश्यता-विषयक मेरे विचार, मेरी पाश्चात्य शिक्षा की देन नहीं हैं। मेरे ये विचार इंग्लैंड जाने से बहुत दिन पूर्व, शास्त्रों का अध्ययन करने से भी बहुत पहले, एक ऐसे वातावरण में बन चुके थे जो इनके लिए अनुकूल न था; क्योंकि मेरा जन्म एक कट्टर वैष्णव परिवार में हुआ था। फिर भी बालिग होने के समय से ही उस सम्बन्ध में मैं अपने इन पक्के विचारों पर दृढ़ रहा हूं। बाद में हिन्दू-धर्मग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन तथा अनुभव से उत्पन्न मेरे ये विचार और भी दृढ़ हो गये हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि जब शास्त्रों में पंचम वर्ण का कहीं भी उल्लेख नहीं है और 'गीता' में ब्राह्मण और भंगी को समान मानने की स्पष्ट आज्ञा है, तब भी हम हिन्दू-धर्म के मस्तक पर लगे इस कलंक को कायम रखने की जिद क्यों पकड़े हुए हैं? भंगी और ब्राह्मण को एक समान मानने का अर्थ यह नहीं है कि सच्चे ब्राह्मण के प्रति हम यथोचित श्रद्धा न रखें, उसका तो यह अर्थ है कि भंगी को भी अन्य हिन्दुओं की भांति हमसे वही सेवा पाने का हक है जो ब्राह्मण को है, वह भी सार्वजनिक शालाओं में अपने लड़के उसी तरह भेज सकता है, सार्वजनिक कुओं से उसी तरह पानी भर सकता है और मन्दिरों में जाकर उसी तरह देव-दर्शन कर सकता है जैसे कोई भी अन्य हिन्दू।

---

7.2.1927, पृष्ठ 54-55, खंड-33, गांधी वाङ्मय



42

## सहस्त्रमुखी दानव

क्या आप यह सोचते हैं कि स्पर्श या दृष्टि-दोषों को वैदिक काल से ही मान्यता मिलती आ रही है?

मुझे वेदों का इतना ज्ञान तो नहीं है कि मैं उसके आधार पर विश्वासपूर्वक कुछ कह सकूं; किन्तु वेदों की पवित्रता में मुझे पूर्ण विश्वास है और मैं यह कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करता कि स्पर्श और दृष्टि-दोषों का वेदों में कहीं उल्लेख नहीं है। किन्तु मेरी तुलना में सर्वश्री सी. वी. वैद्य और पण्डित सातवलेकर जैसे विद्वान् इसपर साधिकार कह सकेंगे। फिर भी मैं इतना जरूर और कहना चाहूंगा कि नैतिकता के विरुद्ध कोई भी आचरण, फिर चाहे वह वैदिक काल से ही क्यों न होता आया हो, तत्काल छोड़ देने योग्य है। यह आचरण तो वेदों की मान्यताओं के विपरीत है; और इससे भी बढ़कर वह आधारभूत आचार-शास्त्र के विपरीत है।

अगले चार प्रश्नों को सार-रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

क्या आप यह नहीं मानते कि कर्मकाण्ड आकर्षण-शक्ति के नियमों पर आधारित है और स्पर्श एवं दृष्टि का दोष, जन्म व मृत्यु के समय के सूतकों का विधान मन की पवित्रता के लिए है?

जहां तक इस प्रकार के विधानों का सवाल है, यह तो कहना ही होगा कि उनकी कोई कम-ज्यादा उपादेयता तो है ही; किन्तु वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा अन्य शास्त्रों, और संसार के अन्य धर्मग्रन्थों में भी, यह बात स्पष्ट रूप

---

3.10.1929, पृष्ठ 542-543, खंड-41, गांधी वाड्मय

से कही गई है कि मन की शुद्धता एक आन्तरिक प्रक्रिया है। शारीरिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न आकर्षण-शक्ति मन से मन पर पड़नेवाले प्रभावों से उत्पन्न सूक्ष्म आकर्षण शक्ति की तुलना में कुछ भी नहीं है। यदि बाहरी शुद्धि के लिए किये कर्मकाण्ड के फलस्वरूप व्यक्ति दम्भी बन जाये और वह अपने-आपको, अपने साथी मनुष्यों की तुलना में श्रेष्ठ माने, और अपने साथियों को पशुओं के समान, अथवा उनसे भी बुरा समझे तो ऐसे कर्मकाण्ड आत्मा का हनन करने लगते हैं।

अत: विधि-निषेध तर्कसम्मत होने चाहिए। इनके द्वारा आत्मा का हनन नहीं होना चाहिए। छुआछूत सम्बन्धी नियम आत्मा के विकास में बाधक सिद्ध किये जा चुके हैं और ऐसा ही फिर सिद्ध किया जा सकता है। ये नियम हिन्दू-धर्म की उदात्त भावनाओं के पूर्णत: विपरीत हैं।



43

## डॉ. अम्बेडकर का दोषारोपण

पाठकों को याद होगा कि गत मई मास में लाहौर में जात-पांत तोड़क मण्डल का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था और डॉ. अम्बेडकर उसका सभापतित्व करनेवाले थे। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने उसके लिए जो भाषण तैयार किया वह स्वागत-समिति को अस्वीकार्य प्रतीत हुआ, जिसके कारण वह अधिवेशन ही नहीं किया गया।

डॉ. अम्बेडकर स्वागत-समिति से यों हार जानेवाले नहीं थे। उसके इनकार के जवाब में, उन्होंने उस भाषण को अपने ही खर्चे से प्रकाशित किया है। उन्होंने उसकी कीमत आठ आने रखी है लेकिन मैं उनसे कहूंगा कि वे उसे घटाकर दो आने या कम से कम चार आने कर दें तो ठीक होगा।

यह भाषण ऐसा है कि कोई सुधारक इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। रूढ़िग्रस्त लोग भी इसे पढ़कर लाभ ही उठायेंगे। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भाषण में एतराज करने लायक कोई बात नहीं है। इसे तो पढ़ना ही इसलिए चाहिए, कि इसमें गहरे एतराज की गुंजाइश है। डॉ. अम्बेडकर तो हिन्दू-धर्म के लिए एक चुनौती हैं। उनका पालन-पोषण एक हिन्दू की तरह हुआ और एक हिन्दू-नरेश द्वारा शिक्षित किये जाने पर भी, सवर्ण कहे जानेवाले हिन्दुओं द्वारा अपने और अपनी जातिवालों के साथ होनेवाले व्यवहार से वे इतने निराश हो गये हैं कि न केवल सवर्ण हिन्दुओं को, बल्कि उस धर्म को भी छोड़ने का विचार कर रहे हैं जो उनकी तथा तमाम हिन्दुओं की संयुक्त

---

11.7.1936, पृष्ठ 147-148, 18.7.1936, पृष्ठ 167-168, खंड-63, गांधी वाङ्मय

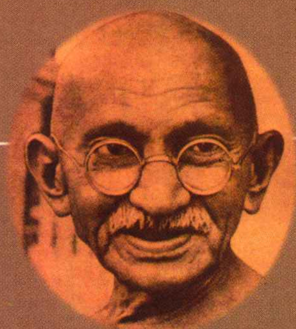
विरासत है। उस धर्म को मानने का दावा करनेवाले एक वर्ग के व्यवहार के कारण वह हिन्दू-धर्म से ही निराश हो गये हैं।

लेकिन इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। क्योंकि किसी प्रथा या संस्था के बारे में कोई राय उसके प्रतिनिधियों के व्यवहार से ही तो बनाई जा सकती है। इसके अलावा डॉ. अम्बेडकर ने पाया कि सवर्ण हिन्दुओं के विशाल बहुमत ने अपने उन सहधर्मियों के साथ, जिन्हें कि उन्होंने अस्पृश्य शुमार किया है, न केवल निर्दयता या अमानुषिकता का व्यवहार का किया है, बल्कि अपने व्यवहार का आधार भी अपने शास्त्रों के आदेश को बनाया है। और जब डॉ. अम्बेडकर ने शास्त्रों को देखना शुरू किया तो उन्हें मालूम हुआ कि सचमुच उनमें अस्पृश्यता और उसके लगाये जानेवाले तमाम अर्थों की काफी गुंजाइश है। डॉ. अम्बेडकर ने ये तीन आरोप लगाये हैं : हरिजनों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता है; निर्दयतापूर्ण व्यवहार करनेवाले अपने इस व्यवहार को निर्लज्जतापूर्वक उचित ठहराते हैं; और हिन्दुओं के शास्त्रों में इस प्रकार के निर्दय व्यवहार का समर्थन किया गया है। और अपने इन आरोपों के समर्थन में उन्होंने शास्त्रों के अध्याय और श्लोक उद्धृत किये हैं।

मेरी राय में डॉ. अम्बेडकर ने सबसे बड़ी जो गलती की वह यह है कि उन्होंने ऐसे उद्धरण चुने हैं जिनकी प्रामाणिकता और महत्ता संदिग्ध है और ऐसे पतनोन्मुख हिन्दुओं का उदाहरण दिया है जो हिन्दू-धर्म का अत्यन्त गलत रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने जो मानदण्ड रखा है उसके हिसाब से तो सम्भवत: आजकल का कोई भी जीवित धर्म खरा नहीं उतरेगा।

अपने योग्यतापूर्ण भाषण में विद्वान् डॉक्टर [अम्बेडकर] ने अपने पक्ष को सिद्ध करने की कोशिश में अतिशयोक्ति से काम लिया है। जिस धर्म में चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लुवर, रामकृष्ण परमहंस, राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, विवेकानन्द तथा अन्य बहुत से ऐसे लोग हुए जिनके नाम सहज ही गिनाये जा सकते हैं, क्या वह धर्म गुणों से इतना हीन हो सकता है जितना कि डॉ. अम्बेडकर ने अपने भाषण में सिद्ध करने की कोशिश की है? किसी धर्म का निर्णय उसके सबसे बुरे नमूनों से नहीं, बल्कि उसके सर्वोत्तम नमूनों से ही किया जा सकता है, क्योंकि उस धर्म के सर्वोत्तम नमूनों को ही ऐसा आदर्श माना जा सकता है जिससे आगे न जा सकें तो भी उस तक पहुंचने की आकांक्षा तो करनी ही चाहिए।

मुद्रक : जे. के. ऑफसेट प्रिंटर्स, नांगलोई, दिल्ली - 110041



हिन्दू-धर्म सभी लोगों को अपने-अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना करने को कहता है, और इसलिए इसका किसी धर्म से कोई झगड़ा नहीं है। हिन्दू-धर्म अनेक युगों का विकास फल है। हिन्दू लोगों की सभ्यता बहुत प्राचीन है और उनमें अहिंसा समायी हुई है। हिन्दू-धर्म एक जीवित धर्म है। हिन्दू-धर्म जड़ बनने से साफ इनकार करता है।

—महात्मा गांधी




रु. 40.00

ISBN 81-237-0634-0

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया